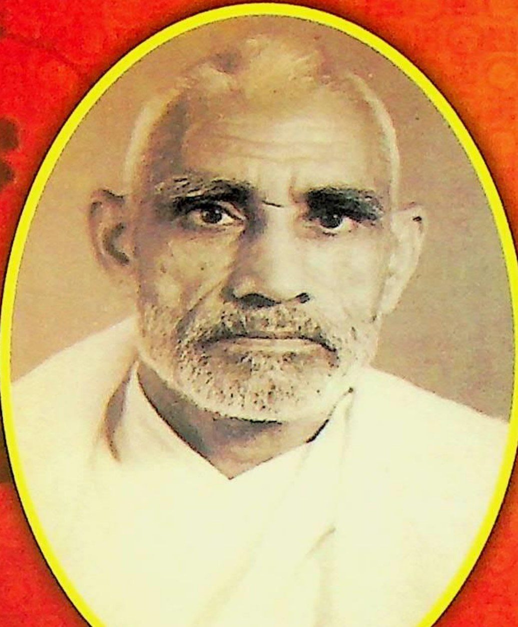
रामचरित मानस में कुण्डलिनी

(व्यक्तिगत अनुभव)



गुरु पूर्णिमा
जुलाई 2017

– महात्मा श्री नारायणदास जी

मूल्य : 30/- रुपये

रामचरित मानस में

कुण्डलिनी

व्यक्तिगत अनुभव



लेखक -

महात्मा स्व. श्री नारायणदास जी

प्रकाशक -

नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट

नारायण आध्यात्मिक आश्रम, सरक्यूलर रोड, शिवपुरी (मध्यप्रदेश)

प्राक्कथन

रामचरितमानस में रामकथा का ही विस्तृत रूप है जिसे सन्त तुलसीदास ने अपने अन्तःकरण को सुखी बनाने के लिये ही विस्तार से रचा है। इस दृष्टि से मानस की भाषा अत्यन्त ही मनोहर रची गई है। इस रामचरितमानस की वर्णित कथा में जिन–जिन विषयों का उल्लेख किया गया है वे अनेक पुराण,वेद,तन्त्रशास्त्र के मतानुसार ही हैं तथा जो आदि बाल्मीकि रामायण में वर्णित हैं और कुछ प्रसंग अन्यत्र से भी जो उन्हें उपलब्ध हुए उनका भी वर्णन किया गया है। जैसा कि वे रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण के सातवें श्लोक में स्पष्ट लिखते हैं कि–

नानापुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं कचिदन्यतोऽपि
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबन्ध मति मन्जुल मातनोति।।

यह सर्व विदित है ही कि तन्त्र–शास्त्र में कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति की महत्ता को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। साथ ही मनीषी विद्वानों ने वेद के तात्पर्य को जन साधारण के लाभार्थ उपनिषदों में ऐसी सरल व रोचक भाषा में लिखा गया है कि वे वेदों को भली प्रकार समझ सकें। उपनिषदों में भी शक्ति की महिमा का ही उल्लेख है। योग शिखोपनिषद् आदि उपनिषदों में कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति के विषय को ही प्रमुख रूप में लिखा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य के पठन तथा मनन से ही सन्त तुलसीदास जी को रामचरितमानस की रचना करने के लिये प्रेरणा मिली हो। उन्होंने सोचा कि इस सुन्दर साहित्य के भावों को घर–घर रोचक कथा के रूप में ही पहुँचाया जा सकता है। जिस कथा से वे अपने को सुखी बना सके, उस कथा से संसार के अन्य मानव भी जिन्हें रूचि हो वे लाभान्वित हो सकें। इस दृष्टि से उस कथा की अत्यन्त मनोहर तथा सरल भाषा में रचना की गई। जो प्रभु कृपा से लोकप्रिय हो गई।

ऐसे महानुभाव जिन्होंने शक्ति (कुंडलिनी) की अनुभूति करली हैं, उन्होंने जब रामचरितमानस का मनन किया तब उन्हें स्पष्ट अनुभव हुआ कि मानस की रचना अद्वितीय है।

ऐसी रचना वही महानुभाव कर सकता है जिसे शक्ति की अनुभूति हो गई होगी। इतना ही नहीं वरन् मानस के मननशील सज्जनों को मानस में कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति की विधि भी बड़ी सरल ढंग से कथा में रूपक आदि अलंकारों में यत्रतत्र छिपी अनुभव हुई।

जब जिज्ञासु पाठक मानस में पढ़ते हैं कि "जाने बिनु न होइ परतीती, तब निश्चय ही उन्हें यह संकेत मिल जाता है कि शक्ति की अनुभूति अवश्य करना चाहिये। अतएव यह कहना असंगत नहीं कि मानस का श्रवण,पठन व मनन कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति करने का प्रेरक है।

गुरूपूर्णिमा,

सम्वत् 2038

—लेखक

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

हरि व्यापक सर्वत्र समाना

सृष्टि का मूल आधार तत्व परमात्मा है और वह सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा आँख से देखा नहीं जा सकता। यह आँख का विषय नहीं है। मन,बुद्धि की भी पहुँच से बाहर है। किन्तु इस तत्व को होना अवश्य चाहिए। अतः इस तत्व की स्वीकृति अनुमान से सिद्ध है। इस तत्व की शक्ति को प्रायः परमात्मसत्ता कहा जाता हैं। परमात्मा के आश्रित रहते हुए यह सत्ता सृष्टि की रचना करती है। इस सत्ता का दूसरा नाम प्राण शक्ति है। प्राणशक्ति से निरन्तर संकल्पों का प्रादुर्भाव होता रहता हैं। ये संकल्प तीन प्रकार के अनुभव में आये हैं। जिन्हें प्रायः त्रिगुण कहा जाता है। सत्व, रज, और तम। इन्हें ही सरल भाषा में सत्वगुणी विचार, रजोगुणी विचार और तमोगुणी विचार कह दिया जाता है।

एक–एक संकल्प ही प्राणी बनकर अपना अभिनय करने लगता है। अभिनय कराने वाली प्रत्येक प्राणी में जो मोक्ष का द्वार खोलने वाली प्रमुख सत्ता है उसे ही योगचूड़ामण्युपनिषद् तथा रूद्रयामल तंत्र आदि में कुंडलिनी की संज्ञा दी गई है।

उद्घाटयेत्कपाटन्तु यथा कुन्चिकया हठात्।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्ष द्वारं विभेदयेत्।।

जैसे दरवाजे का ताला चाबी से बिना परिश्रम ही सरलता से हठात् खुल जाता है, तद्रूप कुंडलिनी शक्ति के उद्‌बोधन से मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। परमात्मतत्व सर्वत्र व्याप्त सत्ता तो है ही, साथ ही वह अखण्ड है, अविभाजित है। अतः परमात्मतत्त्व का एक अंश व्यक्तिगत कुंडलिनी शक्ति में भी है। इसी प्रकार परमात्मतत्व की शक्ति प्राणशक्ति का एक अंश भी कुंडलिनी शक्ति में होना चाहिये। कुंडलिनी शक्ति द्वारा ही प्राणी का शरीर रचा गया है। प्राणी के शरीर का उपयोग कुंडलिनी द्वारा व्यक्त विचारों से किया जाता है। जो विचार आदेश देते हैं उन्हें स्वामी कहा जाता है और जो विचार आदेशों का पालन करते हैं उन्हें सेवक (मैंपन) कहा जाता हैं। वैसे तो व्यक्तिगत मैंपन का कार्य व्यक्तिगत स्वामी की आज्ञा का पालन करना हैं, किन्तु वह अन्य प्राणियों से व्यक्त विचारों में उलझ

जाता है, भ्रम में पड़ जाता है और किं कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। व्याकुल हो जाने पर वह स्वामी को पुकारता है। स्वामी उसकी पुकार सुनता है और वह उसे ऐसा मार्ग सुझाता है जिससे उसे विश्रांति मिल जाती है। इसी प्रकार अन्य व्यक्तियों को भी यदि उसी समय वैसी ही व्याकुलता सताती है तो ऐसे सभी व्यक्तियों को भी उसी प्रकार का सुझाव होता है और सब लोग इस सुझाव के अनुसार चलकर अपनी–अपनी व्याकुलता को दूर करने में सफल हो जाते हैं। वैसे तो व्यक्तियों की इस प्रकार की बातचीत ऐसी अनुभव होती है मानो व्यक्ति ही बोल रहे हैं। परन्तु इस प्रकार की बातचीत वस्तुतःमानसिक होती है, मन ही मन प्रेरणा होती है। इस मन की क्रिया को ही आकाशवाणी समझी जा सकती है।

कभी–कभी ऐसा भी देखने में आता है कि व्यक्ति मन ही मन कुछ विचार करता है और ठीक वैसा ही विचार और व्यक्तियों को भी उसी समय आ जाया करता है। जब वे समान प्रेरणा वाले व्यक्ति आपस में अपनी मानसिक विचारधारा का उल्लेख करते है तो वैसा ही अनुभव करने वाले व्यक्ति उसका समर्थन करते हैं। इस प्रकार की मानसिक क्रिया को जन साध ारण को समझाने की दृष्टि से प्रायः ऐसा कहा जाता है कि हम लोगों ने आकाशवाणी सुनी जबकि वह वाणी मस्तिष्क से ही व्यक्त होती है।

विचारणीय है कि मानसिक स्वामीभाव तथा मैंपन के भाव के आदान–प्रदान की क्रिया जन साधारण की समझ से बाहर है, अतः ऐसा लगता है कि संत तुलसीदास ने रामचरित मानस को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से स्वामीभाव तथा मैंपन के भाव का वर्णन इस प्रकार किया है मानो सचमुच व्यक्तियों की आपस में बातचीत हो रही हो। अतः सात्विक मैंपन के भाव को देवता कहना असंगत नहीं। इन्हें हर्ष, विषाद, सुख–दुख ऐसा ही अनुभव होता है जैसे सब साधारण का प्रायः हुआ करता है। ऐसे ही स्वामीभाव के भाव को देवताओं के स्वामी सुरराया यानी शंकर कहना ठीक ही है। शंकर जी कार्य को समाप्त कर फिर नये सिरे से प्रारम्भ करने की प्रेरणा देने के उत्तरदायी हैं। उत्पत्ति,पालन और संहार के तीनों प्रतिनिध ियों में उत्पत्ति का काम जीवन में अल्प समय का होता है। ऐसे ही संहार का काम भी अल्प समय ही लेता है। सब से अधिक काम तो प्राणी की आयु

पर्यन्त व्यवस्था करने का है। अतः पालन करने की शक्ति को ही विशेष महत्व दिया जाता है। यदि सृष्टि के पालनार्थ उस शक्ति से हम आश्वासन प्राप्त करें तो उचित ही है। संत तुलसीदास जी ने इस महत्वपूर्ण शक्ति को 'हरि' सम्बोधन किया है। अतः उपनिषद् की कुण्डलिनी कहो अथवा रामचरित मानस में हरि कहो एक ही बात है।

ध्यान रहे कि उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली तीन पृथक–पृथक शक्तियां नहीं हैं। शक्ति तो एक ही है पर उसके कामों को ऐसे कहा जाता है मानो वे तीन पृथक् व्यक्ति हों। अतः व्यक्तिगत स्वामी भाव के रूप में कुंडलिनी शक्ति ही उत्पत्ति,पालन संहार के कार्य करती है। उत्पत्ति का कार्य करने में इसे विधि कहते हैं, पालन का कार्य करने से इसे ही हरि कहते हैं और संहार का कार्य करने से इसे ही शंकर या 'हर' कहते हैं। प्राणी मात्र में यह त्रिविध कार्य करने वाली शक्ति व्याप्त होने से इसे सृष्टि की उत्पक्ति,पालन और संहार करने वाली कहा जाता हैं। एक–एक प्राणी में इसी का अविभाजित अंश है, अतः व्यक्ति में जो स्वामी भाव है उसमें ही व्यक्तिगत उत्पत्ति, पालन और संहार करने का काम है।

रामचरित मानस की दृष्टि से व्यक्तिगत कुंडलिनी के एक अंश को ही ऐसा कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में हरि का ही एक अंश विद्यमान हैं।

तुलसीदास जी के द्वारा मानस में इस रहस्य को सरल एवं लोकप्रिय भाषा में रोचक कथानक के ढंग से लिखा गया है। व्यक्तिगत सात्विक 'मैंपन' जब बाह्य अवांछनीय वातावरण से पीड़ित हो जाता है और उसके समस्त प्रयास असफल हो जाते हैं तब वह स्वामी भाव से ऐसा मार्ग दर्शन चाहता है जिससे पीड़ा देने वाले अत्याचारी का नाश हो जावे तब उन्हें संहार करने वाली शक्ति मार्ग सुझाती हैं। अस्तु, वे मानस में लिखते हैं उसका संक्षिप्त विवरण उनके ही शब्दों में इस प्रकार है कि–

वरनि न जाय अनीति घोर निशाचर जो करहिं।

हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापहिं कवनि मिति

अतिशय देखि धर्म की ग्लानि। परम सभीत धरा अकुलानी।।

धेनु रूप धरि ह्रदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी।।
निज संताप सुनाएसि रोई। काहू ते कछु काज न होई।।

धरनि धरहिं मन धीर, कह विरंचि हरि पद सुमिरु।
जानत जन की पीर, प्रभु भजिहिं दारुन विपति।।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाईअ प्रभु करिय पुकारा।।
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाय बचन एक कहेऊँ।।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।।
अग जग मय सब रचित विरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।।

सुनि विरचि मन हरष, तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मति धीर।।
जानि समय सुर भूमि, सुनि वचन समेत सनेह।
गगन गिरा गंभीर भइ हरनि शोक सन्देह।।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहहुँ नर बेषा।।
हरिहऊ सकल भूमि गरूआई। निर्भय होहु देव समुदाई।।
गगन ब्रह्म बानी सुनि काना। अभय भई भरोस जियँ आना।।

भावार्थ यही है कि राक्षस लोग जो घोर अत्याचार करते थे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जिन लोगों की हिंसा करने में ही अधिक रूचि है उनके पापों की कोई सीमा नहीं। जब पृथ्वी ने देखा कि अधर्म की सीमा इतनी बढ़ गई है कि सहन नहीं होती तब वह अत्यन्त भयभीत एवं व्याकुल हो गई।

ध्यान रहे कि धरती से यहाँ अभिप्राय धरती पर रहने वाले लोगों से हैं, ऐसा समझा जा सकता है। जैसे भारत माता से अभिप्राय भारत के रहने वाले लोगों से होता है। तात्पर्य यह है कि जब धरती पर रहने वाले लोग अत्यन्त घबड़ाने लगे तब जैसे किसी व्यक्ति को कोई बहुत सतावे तो वह सार्मथ्यवान व्यक्ति के पास पहुंचकर कहता है कि महाराज त्राहिमाम–त्राहिमाम मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी गऊ हूँ। इसी प्रकार जन साध

ारण ने मन में अच्छी तरह सोचकर कि इन आततायी लोगों पर हमारा बस नहीं चलेगा, अब तो हमारी रक्षा का उपाय वे ही बता देगें जो मननशील व्यक्ति हैं और जिनमें देवत्व शक्ति है। अतः वे गौ के समान दीन बने वहाँ गये जहाँ मननशील तथा देवत्व शक्ति सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने रोकर अपना दुःख उनसे कहा, किन्तु उन्होंने भी कुछ उपाय नहीं सुझाया। इस प्रकार उनका काम किसी से भी न बना। इसी भाव को संत तुलसीदास हृदयस्पर्शी ढंग से अलंकृत भाषा में कहते हैं कि गौ का रूप धारण कर ध ारती वहाँ गई जहाँ सब देवता और मुनि थे। पृथ्वी ने रोकर अपना दुःख सुनाया, पर किसी से कुछ काम न बना।

विचारणीय हैं कि जब व्यक्तिगत 'मैंपन' जो कुंडलिनी शक्ति का सेवक है, अपने स्वामी के आदेश का पालन करने में जब कभी वह किसी आततायी के भय से सर्वथा अपने को असमर्थ पाता है तब वह कुंडलिनी शक्ति से ही सामर्थ्य पाने की विनय करता है। कुंडलिनी शक्ति में उत्पत्ति,पालन और संहार करने की शक्ति होती है। सर्वप्रथम आततायी को नाश करने के लिए उसके प्रतिद्वन्द्वी को उत्पन्न करने के हेतु उत्पत्ति करने वाली क्रिया गतिशील होती है यानी ब्रह्मा काम करता है। फिर आततायी का विनाश करने वाली क्रिया का प्रादुर्भाव होता है यानी शंकर कार्य करता है। तब सुझाव के अनुसार पालन करने वाली शक्ति का आश्वासन प्राप्त होकर कार्य संपन्न हो जाता है और मैंपन पुनः कार्यरत हो जाता है। इसी भाव को श्री तुलसीदास जी अलंकृत भाषा में कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने कहा है कि हे ध ारती! मन में धीरज धारण करके (पालन करने वाली महत्वपूर्ण शक्ति) श्री हरि के चरणों का स्मरण करो। प्रभु अपने सेवक के कष्ट को जानते हैं, वे तुम्हारी कठिन विपत्ति का नाश करेंगे। तब सब देवत्व शक्ति सम्पन्न महानुभावों ने बैठकर विचार विनिमय किया कि प्रभु के पास कहाँ चलें ताकि उनके सामने पुकार की जावे। इस समाज में हे पार्वती जी, मैं भी उपस्थित था यानी शंकर जी भी वहाँ थे। उन्होंने श्री हरि कहाँ रहते हैं इस रहस्य को समझाने का उपयुक्त अवसर जानकर देवताओं को स्पष्ट शब्दों में कहा कि मेरी समझ से श्री हरि सब जगह समान रूप से विद्यमान रहते हैं। और वे प्रेम से प्रकट हो जाते हैं। वे चराचर मय होते हुए ही सब से

रहित हैं और उनकी आसक्ति किसी में भी नहीं हैं, वे प्रेम से प्रकट होते हैं यानी अनुभव में आते हैं। जैसे अग्नि सब जगह व्याप्त है किन्तु जहाँ रगड़ अधिक होती है वहाँ अनुभव में स्पष्ट आती है। शंकरजी की बात सबको बहुत अच्छी लगी। और ब्रह्मा जी ने साधु–साधु कहकर उनकी बड़ाई की। इतना ही नहीं वरन् उनकी बात सुनकर ब्रह्मा जी के मन में बड़ा हर्ष हुआः उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों से प्रेम के आंसू बहने लगे। तब वे धैर्यवान् ब्रह्मा जी सावधान होकर हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे।

फलतः पृथ्वी पर रहने वाले देवताओं को भयभीत जानकर और उनके प्रेममय वचन सुनकर शोक और सन्देह को हरने वाली गम्भीर आकाशवाणी हुई कि–हे मुनि, सिद्ध और देवताओं के स्वामी ब्रह्मा जी तथा शंकर जी, डरिये नहीं! तुम्हारे लिये मैं मनुष्य का शरीर धारण करूँगा। मैं पृथ्वी का सब भार हर लूँगा! हे देववृन्द। तुम निर्भय हो जाओ। आकाश में ब्रह्म की वाणी को सुनकर संतुष्ट हुए देवगण तुरन्त लौट गये। उनका हृदय शीतल हो गया। तब ब्रह्मा जी ने पुनः उन्हें समझाया और उन्हें विश्वास हो गया। श्री हरि किस प्रकार मनुष्य का शरीर धारण कर मानव की भव बाध ााएें दूर करते हैं इस रूपक का स्पष्टीकरण यही अनुभव होता है कि जब प्राणी गर्भ में आता है तब ही से कुण्डलिनी शक्ति जिसे मानस ने श्री हरि कहा है प्राणी के साथ ही रहती है। यह शक्ति उन विचारों से काम लेती हैं जिन्हें हम पहले ही मैंपन कह आये हैं। मैंपन जो सेवक है यह भ्रम से अन्य प्राणियों की बातों को ग्रहण करता रहता है। उसे स्मरण नहीं रहता है कि वस्तुतः वह कुण्डलिनी के आदेशों का पालन करने ही आया है। जब वह भव बाधाओं से पीड़ित होता है और वह उनसे कैसे बचे, इसका कोई उपाय नहीं सूझता तब वह अपने अन्दर ही अपने निर्माण करने वाले स्वामी को ढूंढ़ता हैं। उन्हें अंधकार में पुकारता है। तब वे ही उसे अपना भान करा देते हैं। इस प्रकार कुण्डलिनी का भान मैंपन को होता है अथवा यों कहिये कि श्री हरि की अन्दर से उठी भावना को मैंपन अपने ही अन्दर सुनता है। यही आवाज अलंकृत भाषा में आकाशवाणी कही जा सकती है। ध्यान रहे कि जन साधारण तो अन्य प्राणियों से ही अपनी रक्षा कराने की आशा में लगे रहते हैं किन्तु सात्विक संस्कारी जिन्हें देवत्व शक्ति में विश्वास होता

है, यानी देव वृन्द का ध्यान अपने निर्माण करने वाली शक्ति की ही ओर जाता है। अतः देवता श्री हरि को पुकारते हैं अथवा यूँ कहिये कि कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति करते हैं। फलतः वे स्वामी से बल पाते रहते हैं। और उनके बल पर भव बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं। संक्षेप में यह समझिये कि वे अपने को पूर्ण समर्पित समझ जाते हैं। कर्ता–पन से रहित हो जाते हैं। वे स्वयं को कुण्डलिनी अथवा श्री हरि के आधीन अनुभव करते हैं। उनके समस्त कर्म अपने स्वामी के लिए ही किये जाते हैं। जिससे कर्म फल से वे मुक्त हो जाते हैं। कर्म फल ही भव बाधाऐं हैं। अतः समस्त भव बाधाओं से मुक्त रहते हैं। कर्ता पन ही निशाचर सदृश है। श्री हरि के रूप में कुण्डलिनी के समीप रहने से तथा उसके आदेशानुसार बर्तने से कर्तापन रूपी राक्षस प्रभावहीन हो जाता है। देवता शांति अनुभव करते हैं।

अस्तु, यह कहना असंगत नहीं कि कुण्डलिनी अथवा श्री हरि सर्वत्र व्याप्त हैं और जो भी उनसे प्रेम करता है और उन्हीं के आदेशानुसार बर्तना चाहता है उसे उनको सहज ही अनुभूति हो जाती है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कुण्डलिनी अथवा श्री हरि समष्टि के एक अंश के रूप में जन्म से ही सबके पास रहते हैं और अन्त समय तक रहते हैं। साथ ही उसकी सत्ता किसी एक स्थान पर ही रहती हो ऐसा नहीं है प्राणी के समस्त शरीर मैं व्याप्त रहती है। अतएव, कुण्डलिनी कहो चाहे हरि सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, यह बुद्धि संगत है, यथार्थ है।

प्रेम तें प्रगट होंहि मैं जाना

यह तो पाठक पिछले अध्याय 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' में पढ़ ही चुके हैं कि देवत्व शक्ति सम्पन्न महानुभाव जब निर्णय नहीं कर सके कि 'श्री हरि' उन्हें कहाँ मिलेंगें तब शंकर जी ने स्पष्ट शब्दों में उन्हें कहा था कि 'श्री हरि' सब जगह समान रूप से विद्यमान रहते हैं। साथ ही, उन्हें यह भी बताया था कि वे प्रेम से प्रकट हो जाते हैं। शंकर जी के वचनों में विश्वास करके श्री हरि की स्तुति की गई, उनके गुणानुवाद गाये गये और अपनी दुःख भरी पुकार उन्हें सुनाई गई। फलतः आकाशवाणी हुई जिसमें उन्हे आश्वासन दिया गया कि वे डरें नहीं उनका दुःख तथा भय दूर हो जावेगा।

विचारणीय है कि शंकर जी ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहा था कि श्री हरि प्रेम से प्रकट हो जाते हैं। किन्तु, श्री हरि प्रकट तो हुए नहीं केवल आकाशवाणी के माध्यम से उन्हें विश्वास दिलाया गया कि उनकी पुकार सुन ली गई। उनकी विषम परिस्थिति से मुक्ति हो जावेगी। तद्नुसार देवताओं पर जो दुःख आ पड़ा था और जिसे दूर करने में वे लाचार हो गये थे यानी जो बात उनकी सार्मथ्य के बाहर थी उसके हल करने का मार्ग मिल गया। उनके ऊपर जो कष्ट आ पड़ा था वह दूर हुआ। किन्तु, जीवन में दुःख,सुख तो आने जाने वाले हैं, स्थाई नहीं हैं। आकाशवाणी के माध्यम से उपस्थिति विषम विपत्ति अवश्य दूर हो गई परन्तु जीवन पर्यन्त वे कष्टों से पीड़ित न होगें इसका आश्वासन उन्हें नहीं मिला। शंकर जी ने तो उन्हें वह युक्ति सुझाई थी जिससे श्री हरि प्रकट हो जावेंगे। वे सदा अनुभव में आवेंगे। वे सदैव सुख–दुःख से ऊपर उठे रहेंगे। क्योंकि, श्री हरि के सन्मुख कोई भी अवांछनीय घटना नहीं घट सकती, यह अनुभूत तथ्य है। विचारणीय है किं देवताओं ने श्री हरि की स्तुति इसलिये तो की नहीं थी कि वे उनके शुद्ध प्रेमी होकर उनके अनुयायी बनना चाहते हैं और न वे उनके पास ही प्रतिक्षण रहना चाहते हैं। वे तो श्री हरि से अपना स्वार्थ सिद्ध कराना चाहते थे। जो कष्ट उन्हें आततायियों से था वह दूर हो गया। स्वार्थ सिद्ध हो गया, स्वार्थ सिद्धि के लिये ही उनकी प्रीति थी। अतः स्पष्ट है कि जो देवता चाहते थे उसके लिए श्री हरि को स्वयं प्रकट होने की

आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उन्हें तो केवल यही आवश्वासन की अपेक्षा थी कि वे उनका आया हुआ कष्ट दूर कर उन्हें निर्भय बना दें। अतएव इस दृष्टि से आकाशवाणी द्वारा उन्हें विश्वास दिला दिया गया और यही पर्याप्त था।

इस प्रकार श्री शंकर जी के सुझाव का आंशिक ही पालन किया गया। यदि पूर्णतः उनके सुझाव का पालन किया गया होता तो श्री हरि निश्चित प्रकट हो जाते यानी उनके मस्तिष्क में उनके अस्तित्व की अनुभूति सदैव होती रहती।

पाठक यह तो पिछले अध्याय में पढ़ ही चुके हैं कि कुण्डलिनी शक्ति को ही अलंकृत भाषा में सन्त तुलसीदास जी ने 'श्री हरि' सम्बोधन किया है। अस्तु, सरल भाषा में यह कहा जा सकता है कि कुण्डलिनी की अनुभूति के लिये केवल निःस्वार्थ, सहज,विशुद्ध प्रेम चाहिये। श्री बाल्मीकि इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि–

जाहि न चाहिअ कबहुं कछु, तुम्ह सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो राउर निज गेह।।

वस्तुतः मन की क्रिया मस्तिष्क में होती हैं, अतः श्री हरि के प्रति जिसको विशुद्ध प्रेम है, जिसकी सर्वोपरि इच्छा प्रतिक्षण उनके पास रहने की है, जो एक क्षण को भी उनसे पृथक नहीं होना चाहता जैसे किसी व्यक्ति को अपने बच्चे पर प्रेम है तो वह अपने बच्चे का ही निरन्तर ध्यान रखता है, बच्चे में ही उसका मन रखा रहता है–वैसे ही जो श्री हरि को प्रेम करता है उसे श्री हरि की अनुभूति हो जाती है और प्रतिक्षण होती रह सकती है। अतः श्री तुलसीदास जी शंकर जी से इसी भाव को व्यक्त करा रहे हैं कि 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना'। ध्यान रहे कि शंकर जी इस गूढ़ रहस्य को प्रकट कर रहे हैं कि जिसके मार्ग दर्शन मात्र से देवता अपना एक स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं तो उस व्यक्ति के प्रतिक्षण निकट रहने से उनके सभी स्वार्थ सहज ही सिद्ध हो जाया करेंगें। दूसरे शब्दों में उनके स्वार्थो की ही इति हो जावेगी। वे निःस्वार्थ हो जावेंगे क्योंकि प्रेम मार्ग में स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं हैं। अतः शंकरजी के इस कथन में कि 'प्रेम तें

प्रगट होहिं मैं जाना' का वही अभिप्राय हैं कि प्रेम स्वार्थ रहित हो।

निष्काम प्रेम से अनुभूति कैसे होती है और उससे सम्पूर्ण क्लेशों का अन्त कैसे हो जाता हैं यह दिखाने के लिए संत तुलसीदास जी को शंकर जी के पास सदा रहने वाली उनकी सहचरी सती ही दिखीं। अतः उनको ही अनुभूति कराने का सर्वश्रेष्ठ पात्र उन्होंने समझा। अस्तु, वे बड़े रोचक ढंग से कथा को प्रस्तुत करते हैं कि महारानी कैकेयी को दिये गये दो वरदानों में से एक के अनुसार राजा दशरथ को अपने पुत्र रामचन्द्र को चौदह वर्ष का बनवास दिया गया। तदनुसार श्री रामचन्द्र अपने भाई श्री लक्ष्मण तथा अपनी पत्नी सीताजी के साथ बनवास भोग रहे थे। श्री सीताजी अत्यन्त सुन्दर थीं। लंका का राक्षस राजा रावण उन्हें साधु का वेष बनाकर हर ले गया। श्री राम तथा श्री लक्ष्मण सीताजी का पता लगाते–लगाते वन में भटक रहे थे। श्रीराम को सीताजी का विरह असह्य हो रहा था। महान दुःख से पीड़ित हुए वे पागलों की भांति वृक्ष, लता,जंगल के पशु हिरण आदि से पूछते थे कि हे हिरनों, क्या तुमने मेरी मृगनयनी सीता को देखा था। सीता के विरह में श्रीराम साधारण पुरूष की भांति विलख–विलख कर रो रहे थे। इस अवसर पर श्री शंकर और उनकी धर्म पत्नी सती घूमते हुए उधर से ही निकलते हैं। शंकर जी श्रीराम से पूर्ण रूपेण परिचित थे। उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान था कि अन्दर से आदेश देने का काम स्वामीभाव का होता है, और आदेश पालन का काम 'मैंपन' का, तथा साक्षी भाव में आदेश दिया जा रहा है एवं आदेश का पालन हो रहा है इसकी अनुभूति मात्र रहती है। परमात्मतत्व सर्वत्र व्याप्त होने से प्रत्येक भाव के साथ स्वतः ही सदैव रहता है।

जब शंकर जी ने उन्हें इस प्रकार साधारण मनुष्य के समान दुःख प्रगट करते हुए देखा तब तुरन्त ही वे समझ गये कि साक्षी भाव में स्थित हुए भगवान श्री राम दुःख का अभिनयमात्र कर रहे हैं। शंकर जी भी सदैव साक्षी भाव में रहने के अभ्यासी थे। वे परमात्व तत्व के ध्यान में ही प्रायः लीन रहते थे। श्रीराम को भी परमात्मतत्व में लीन हुए मानव का अभिनय करते हुए उन्होंने देखा तो सहज भाव में उनका परमात्मतत्व के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा और उनके मुख से ये शब्द निकल पड़े कि–

'जय, सच्चिदानन्द जग पावन' इतना ही नहीं वरन् वे पुलकित हो गये। तुलसीदास जी के शब्दों में–

चले जात सिव सती समेता, पुनि–पुनि पुलकित कृपा निकेता।।

इस प्रकार आनन्द में विमोर हुए शिवजी को देखकर सती के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि शंकर जी जगत के स्वामी हैं, परम पूज्यनीय हैं। इन्होंने एक राजा के लड़के को सच्चिदानन्द कहकर क्यों प्रणाम किया? श्री राम यदि भगवान के अवतार हैं तो उन्हें अज्ञानी के समान अपनी स्त्री को नहीं खोजना चाहिए। वे अपने मन को बहुत समझाती थीं कि शंकर जी का राजा के लड़के को भगवान समझना ठीक ही होगा पर उनके चित्त में यह बात जँचती नहीं थी। शंकर जी ने सती को बहुत समझाया कि प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में स्वामीभाव सेवकभाव, तथा गुणातीत का भाव सदा ही रहता है। मैंपन जब अज्ञान में डूबा हुआ 'मेरे तेरे' में बर्तता है तो कभी अनुकूल स्थिति में हँसता हैं, तो कभी प्रतिकूल स्थिति आने पर रोने लगता हैं। जैसे–जैसे मैंपन का अज्ञान हटता जाता हैं वैसे वैसे ही उसे गुणातीत स्थिति में रहना आने लगता है। वह गुणों में रहते हुए भी उनसे परे हो जाता यानी उसे विचार अपने से पृथक दिखने लगते हैं। इस भाव में लीन होने पर व्यक्ति का मैंपन अत्यन्त शान्त हुआ सच्चिदानन्द सदृश अनुकरण करने लगता है। चूंकि 'मैंपन' आँख से तो दीखता नहीं अतः व्यक्ति का शरीर ही पुलकित होने लगता है। साथ ही गुणातीत स्थिति में रहने का अभ्यासी व्यक्ति गुणों में बर्तते हुए भी अपने आप को गुणों से पृथक अनुभव करता है। उसके द्वारा सुख–दुःख का आचरण होते हुए भी वह उनमें लिप्त नहीं होता। तत्काल ही यदि आवश्यकता पड़े तो वह सुख–दुःख से ऊपर उठे हुए सदृश आचरण करने लगता है। चूंकि श्री राम गुणातीत स्थिति में रहने के ऐसे ही अभ्यासी हैं जैसे कि मैं, अतः मुझे उनका गुणातीत स्वरूप ही दीख रहा हैं। इस कारण मेरे मुख से 'जय सच्चिदानन्द' आदि शब्द निकले। तथा मेरी शारीरिक स्थिति पुलकायमान हो रही है।

इस प्रकार शंकर जी ने सती को बहुत समझाया। किन्तु उनकी समझ में नहीं आया। क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान के लिये परमात्मसत्ता के अंश की यानी कुण्डलिनी की प्रत्यक्ष अनुभूति होना चाहिये। अनुभूति के

लिये निष्काम विशुद्ध प्रेम चाहिये। अतः शंकर जी ने सती से कहा कि यदि आपको मेरी बात समझ में नहीं आती तो आप स्वयं श्री राम की परीक्षा ले सकती हैं। अस्तु, श्री राम की परीक्षा लेने के हेतु सीता जी का रूप धारण कर सती उस मार्ग में जाकर बैठ गई जिस मार्ग से श्रीराम दुःख से व्याकुल हुए आ रहे थे। जैसे ही श्री राम की दृष्टि सीता बनी सती पर पड़ी वैसे ही वे मैंपन से ऊपर उठकर साक्षी भाव में स्थित हो गये और उन्होंने सती को प्रणाम करके कहा कि हे माँ, मैं दशरथ का पुत्र राम पिता की आज्ञा से वन में आया हुआ हूँ। यहाँ मेरी साध्वी सीता का अपहरण हो गया है। मैं उन्हें खोजता फिर रहा हूँ। आप शंकर जी को छोड़कर यहाँ अकेले कैसी बैठी हुई हैं। श्री राम की गूढ़ बात सुनकर सती ने समझ लिया कि शंकर जी का कहना ठीक है। किन्तु, अब उन्हें अपनी चिन्ता हो गई कि जब शंकर जी उनसे पूछेंगें कि 'कहो सती कैसे परीक्षा ली'? तब यदि मैं उनसे सीता बनने की बात कहूँगी तो वे तुरन्त ही मुझसे पत्नि सदृश व्यवहार करना छोड़कर माँ जैसा व्यवहार करने लगेंगे। क्योंकि, वे सीता जी को अपनी माँ जैसा ही समझते हैं। इस विचार धारा से सती अत्यन्त व्यथित हो गईं। वे एक क्षण को शून्य सी हो गईं। इस स्थिति में वे स्वप्नवत् देखती हैं कि –रामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी उनके सामने से जा रहे हैं। वे जिधर देखती थीं उध ार ही तीनों दिखलाई देते थे। इतना ही नहीं वरन् संत तुलसी के शब्दों में–

सती विधात्री इंदिरा, देखी अमित अनूप।
जेहि जेहि बेस अजादि सुर, तेहि तेहि तन अनुरूप।।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुरतेते।।
जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा।।
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु वेषा। राम रूप दूसर नहीं देखा।।
सोइ रघुवर सोई लछिमन, सीता। देखि सती अति भई सभीता।।
ह्वदय कंप तनु सुधि कछु नाहीं। नयन मूंदि बैठी मग माहीं।।
बहुरि बिलोकेऊ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दक्ष कुमारी।।
पुनि पुनि नाइ राम पद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा।।

इस प्रकार उन्हें यह अनुभव हो गया कि राम,लक्ष्मण और सीता प्रत्येक स्थिति में एकसे ही रहते हैं, राम ब्रह्म के प्रतीक हैं, लक्ष्मण जीव के, और सीता माया के प्रतीक हैं। अत्रि ऋषि के आश्रम से जब राम,सीता,लक्ष्मण आगे वन में जा रहे हैं, तब संत तुलसी भी अपने भाव को इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए व्यक्त करते हैं कि–

आगे राम अनुज पुनि पाछें। मुनिवर वेष बने अति काछें।।

उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।।

साक्षीभाव आधार का काम करता है। अतः राम मूलाधार सत्ता हैं। जिसके आधार से माया उत्पत्ति, पालन और संहार करती है। सीता ही माया है जो कुंडलिनी शक्ति की प्रतीक है। लक्ष्मणजी जीवभाव के प्रतीक हैं। वे ही सेवक के रूप में मैंपन है जो कुंडलिनी के आदेशों का पालन करता है। राम के ब्रह्म भाव और सीता के माया भाव की पुष्टि में संत तुलसी बाल्मीकि जी से कहलाते हैं कि–

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह, जगदीश माया जानकी।

जो सृजति जगु, पालति, हरति, रूख पाय कृपानिधान की।।

अस्तु, सती इस रहस्य को भली प्रकार अब समझ गई कि प्रत्येक शरीर में साक्षीभाव, स्वामीभाव तथा सेवकभाव सदैव विद्यमान रहता है यानी राम, सीता और लक्ष्मण सदैव रहते हैं। स्वामीभाव आदेश देता है और सेवकभाव आदेश का पालन करता है। सेवकभाव पृथक अस्तित्व नहीं रखता वह कुंडलिनी का ही अंश है। काम पृथक होने से उसका पृथक अस्तित्व दीखता है। किन्तु, सती को सीता के समान समझकर जब शंकरजी उनसे माँ के समान आचरण करने लगे तो सती से यह व्यवहार सहन नहीं हुआ और उन्होंने ऐनकेन प्रकारेण दक्ष के यज्ञ में शरीर त्याग दिया। और उन्होंने हिमाचल की पुत्री के रूप में पुर्नजन्म लिया और शंकरजी से ही पुनः विवाह किया। इस प्रकार पार्वती जी को शंकरजी की पत्नि बनने का पुनः सौभाग्य प्राप्त हो गया।

विचारणीय है कि सती ने सीता का वेष बनाकर जब राम की परीक्षा ली थी तब ही राम की महिमा का उन्हें ज्ञान हुआ कि वे सर्वत्र व्याप्त

हैं और उनके रूप अपरिवर्तनशील हैं। ये सब उन्होंने स्वप्नवत् देखा था किन्तु जब उनके नेत्र खुल गये, स्वप्न टूट गया, स्वप्न टूटते ही राम,सीता लक्ष्मण भी अर्न्तधान हो गये और फिर न दिखलाई दिये। इस प्रकार राम की महिमा उन्होंने देखी अवश्य किन्तु जिस सत्ता से उन्होंने देखी उसका क्षणिक ही दर्शन हुआ। उन्हें शक्ति की स्थाई अनुभूति नहीं हुई। अनुभूति की जिज्ञासा के लिये ही उन्होंने जन्म लिया था। अतः पार्वतीजी शंकर जी से निवेदन करती हैं कि हे नाथ, कृपा करके अब मुझे वह शक्ति प्रदान कीजिए जो अनुभूति के उपरान्त सदा रहे और जीवन पर्यन्त रहे। सत्य ही, मुझे पहले जैसा मोह नहीं शक्ति के प्रति विशुद्ध प्रेम हैं। मैं उसकी शरण में ऐसे ही रहना चाहती हूँ जैसे कि आप रहते हैं। साथ ही मुझे यह भी विश्वास हो गया है कि सबके अन्दर वह सत्ता विराजमान हैं। सर्वत्र उसका एक ही रूप है। आपमें तथा मुझमें शक्ति पृथक्–पृथक् नहीं हैं। एक ही सत्ता है। इस प्रकार के भाव व्यक्त करती करती वे शक्ति के अधीन हो गई। वे पूर्ण समर्पित हो गई। जब उनका शरीर हल्का हो गया तो उन्होंने अपने को शक्ति का सेवक सच्चाई से समझा। साथ ही, उन्हें इस प्रकार अनुभव हुआ कि "जिस सत्ता के अधीन मैं हूँ वह मुझसे पृथक् नहीं हैं। वह मेरे साथ प्रतिक्षण हैं। मुझे उसके लिए ही सब काम करने में अच्छा लगता है। मुझे शंकरजी की सेवा सुश्रुषा करना भी सब शक्ति की विशुद्ध भक्ति अनुभव होने लगी हैं।" अब जब शंकरजी उनसे पूछते हैं कि 'हे पार्वती! कुछ और पूछना चाहती हो क्या?" तो पार्वती जी ने अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में कहा कि–

मैं कृतकृत्य भइऊँ अब, तब प्रसाद विस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़, बीते सकल कलेश।।

विचारणीय है कि जब तक सती ने सीता का रूप धारण कर श्रीराम की परीक्षा नहीं ली थी तब तक वे समझती थीं कि परमात्म–सत्ता व्यक्ति में नहीं होती। उससे पृथक् कहीं अज्ञात स्थान में रहती है।। जब वह अवतार लेती है तब वह जन साधारण के आचरण से भिन्न आचरण करती है। यही कारण है कि जब सती ने पत्नि के लिये रोते हुए राजकुमार श्रीराम को देखा तो वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थीं कि वे अवतारी महापुरूष हैं। हाँ, शंकरजी को परमात्म–तत्व की पूर्ण अनुभूति थी। वे स्पष्ट जानते

थे कि प्रत्येक व्यक्ति के तीनों भावों में यानी साक्षी, स्वामी तथा सेवकभाव में भी परमात्मतत्व सर्वत्र व्यापक होने से व्याप्त हैं। चूंकि महापुरूष इस रहस्य से भली भाँति परिचित होता है अतः वह प्रत्येक भाव का आचरण करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता। श्रीराम भी महापुरूष थे ही, शंकरजी भी महापुरूष थे। दोनों ही परमात्मतत्व के रहस्य से परिचित थे। अतः शंकरजी ने सहज ही श्रीराम के परमात्मतत्व को ही "जय सच्चिदानन्द, जग पावन" कहा था और वे उसके प्रति प्रेम भाव में मग्न हो गये थे। सती ने दूसरा जन्म ले लिया अब वे पार्वती कहलाने लगीं। पूर्व जन्म में जो उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि वे अपने में भी परमात्मतत्व का अनुभव करें वही अभिलाषा इस जन्म में भी तीव्रता से उभरी कि वे स्वामी भाव व्यक्त करने वाली कुंडलिनी शक्ति को सदैव अपने अन्दर ही अनुभव करें। यह अनुभव विशुद्ध निष्काम प्रेम से ही होता है। अतः पार्वतीजी ने शंकरजी से विनय की कि हे नाथ "कृपा करके अब राम कथा सुनाइये और उसके माध्यम से परमात्म तत्व तथा परमात्म सत्ता का रहस्य स्पष्ट कीजिये। साथ ही मेरे अन्दर परमात्म सत्ता का जो अंश है उसकी अनुभूति कराकर मुझे कृतार्थ कीजिए जिससे स्वामीभाव का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो सके और मेरा "मैंपन" सेवक भाव से आचरण करने लगे। हे प्रभु, मैं विशुद्ध प्रेम भाव से पूछ रही हूं। अब मेरे मन में किंचित भी शंका नहीं हैं। और न मोह है न भ्रम।" शंकरजी ने प्रसन्न होकर पार्वतीजी से कहा कि–

राम कृपा तें पार्वती, सपनेहुँ तव मन माहिं।
शोक मोह संदेह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं।।

इतना कहते ही पार्वती परमात्मसत्ता के भाव में लीन हो गईं। वेग कम होने पर श्री शंकर जी को प्रणाम करके वे बोलीं कि, हे नाथ आप धन्य हैं, निःस्वार्थ प्रेम से कितनी शीघ्र परमात्मसत्ता की अनुभूति हो गई। आपकी महान कृपा है। अब मुझे यह स्पष्ट हो गया कि सत्ता के अनुग्रह से ही प्रत्येक कार्य हो रहा है इतना ही नहीं वरन्, सत्ता की कृपा से ही काम करने की सामर्थ्य भी मुझमें आ रही है। अब रामजी के लिए प्रत्यक्ष में काम करना और मन में उसे उनका ही काम होना समझना सरल हो गया। इस प्रकार रामजी की भक्ति का रहस्य खुल गया। इस प्रकार भक्ति के लिये

विशेष प्रयास कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं हैं। केवल निःस्वार्थ प्रेम चाहिये। राम कथा का यही सार है। सत्य ही, तुलसीदास जी इसकी पुष्टि करते हुये कहते हैं कि–

मुनि दुर्लभ हर भगति नर, पाबहिं बिना प्रयास।

जो यह कथा निरन्तर, सुनहिं मान विस्वास।।

अस्तु, शंकर जी का यह कहना कि 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना' यथार्थ है, स्पष्ट है और अनुभवगम्य है। बिना प्रयास के ही इच्छुक व्यक्ति को श्री हरि की अथवा कुण्डलिनी शक्ति की भक्ति करना सहज ही आ जाती हैं।

जानें बिनु न होइ परतीती

जनसाधारण के मस्तिष्क में प्रायः ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते कि मैं कौन हूँ? मुझे किसने बनाया है? मैं क्यों संसार में आया हूँ? तब बनाने वाली सत्ता को जानने के लिए जिज्ञासा होना तो बहुत कठिन हैं? खाना, पीना, कमाना, खर्च करना आदि भोगों में ही उलझा रहना स्वाभाविक है। किन्तु ऐसे व्यक्तियों की जब उनके मन के जैसी बात नहीं होती तब वे भी परेशान हो जाते हैं। अपनी परेशानी को दूर करने को और लोगों से सहायता मांगते हैं। जब किसी से भी उनका काम नहीं चलता तब वे साध ु,सन्त, गुरूजन आदि से सम्पर्क साधते हैं तथा उनके आदेशानुसार,जप,तप, उपवास,पूजा,पाठ आदि करने में प्रवृत्त होते हैं। इन धार्मिक कृत्यों को करने में किसी न किसी देवी, देवता की आराधना करनी पड़ती है, अतः जिस किसी देवी या देवता में जिस व्यक्ति की रूचि हो जाती है वह उसका इष्टदेव हो जाता है। प्रायः उसकी ऐसी धारणा हो जाती है कि उसकी आराधना से ही उसके काम सिद्ध होते हैं, यद्यपि कभी उससे कोई कामना सिद्ध हो जाती है तो कभी नहीं भी होती तथापि इष्टदेव में निष्ठा बनी रहती है। किन्तु कभी—कभी व्यक्ति ऐसी विपक्ति में फँस जाता है, जिसमें से उबरने के लिये उसके समस्त प्रयास निष्फल चले जाते हैं। वह अधीर हो जाता है। इस स्थिति में इष्टदेव के प्रति उसकी आस्था निर्बल पड़ जाती है। तब कभी किसी देवता को अपनाता है, तो कभी किसी देवता को, किन्तु उसके चित्त की अशांति मिटती नहीं। गुरूओं से दीक्षा लेता है। जैसे—जैसे बताया जाता है वैसे—वैसे ही यज्ञ, जप, पूजा,पाठ आदि भी करता है। किन्तु उसकी बैचेनी बढती ही जाती है। कभी सगुण उपासना में प्रवृत्त होता है तो कभी निर्गुण में। कभी भगवान के दर्शन करना चाहता है, कभी राम के कभी कृष्ण के तो कभी दुर्गा के। संयोग से कभी किसी अवतार के विग्रह का क्षणिक आभास हो भी जाता है तो कुछ शांति सी अनुभव करता है। और बार—बार वैसे ही विग्रह के दर्शन का प्रयास करता है। किन्तु, फिर दर्शन तो होता नहीं वरन् उसकी बैचेनी ही अधिक बढ़ जाती है। शैवसाध ुओं से यह सुनकर कि शंकरजी जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं, वह शंकरजी की

उपासना करता है। भाग्य से कुछ सफलता प्राप्त करता है। अब वह उन्हीं का भक्त हो जाता हैं। तथा शंकरजी के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासकों की निन्दा करने लगता है। उसे यह विवेक नहीं कि परमात्मसत्ता तो सर्वत्र व्याप्त सत्ता है, व्यक्ति से समस्त प्रयास भी सत्ता ही कराती है और यंत्रवत् उनका फल मिलता रहता है। व्यक्ति कर्म का कर्त्ता नहीं है, सेवक है। सेवक भाव में ही स्थाई शांति आती है। सेवक भाव में ही स्थाई शांति आती है। सेवक को आदेश देने वाला स्वामी भी प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। कोई–कोई महापुरूष स्वामीभाव को ही श्रीहरि अथवा कुण्डलिनी संबोधन कर देते हैं यह विवेक भली प्रकार से रोचक क़था के द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। अतः ऐसा लगता है कि सन्त तुलसीदास जी रामचरित मानस में काकभुशुंडि और गरूड़ की कथा के माध्यम से इस विवेक को उन्हें ह्रदयांगम कराना चाहते हैं जो इस रहस्य को जानने के सचमुच इच्छुक हों। इस दृष्टि से वे गरूड़ तथा काकभुशुंडि सम्बाद को प्रस्तुत करते हैं।

विचारणीय है कि प्राचीन ग्रन्थों की परिपाटी में प्रायः पशु–पक्षियों के माध्यम से नीति समझाने की प्रथा प्रचलित थी, जैसा कि मंत्र,तंत्र,हितोपदेश आदि की कथाओं के पढ़ने से विदित होता हैं। संत तुलसीदास जी भी इसी परिपाटी को अपनाते हैं। किन्तु वे, आवश्यकतानुसार मनुष्यों की भी बातचीत पशु–पक्षियों से करा देते हैं। गरूड़ जी श्रीहरि के वाहन के रूप में कथानक में आते हैं। वे परम भक्त हैं, किन्तु वे भी मोह में पड़ जाते हैं–

ग्यानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवन पति कर जान।
ताहि मोह माया नर, पावँर करहिं गुमान।।

मोह का प्रसंग इस प्रकार उपस्थित हुआ कि मेघनाद और रामजी का लंका में घोर युद्ध हो रहा था। मेघनाद बड़ा मायावी था। उसने अपनी समझ से अनेक शस्त्र–अस्त्रों का प्रयोग कर रामजी को परास्त करना चाहा, परन्तु न कर सका, तो उसने ऐसे वाण रामजी पर छोड़े जो ब्याल बनकर रामजी के शरीर से लिपट गये। तब उनका रूप विष्णु की शेषशैय्या जैसा हो गया, फलतः रामजी उस नागपाश से बँध गये। रामजी इसका बहुत ध्यान रखते थे कि मर्यादा की अवहेलना न हो जावे। ध्यान रहे कि

ब्याल,विष्णु का पर्यायवाची शब्द है। शेष शैय्या पर लेटे हुए यानी बँधें हुए रहना उनका सहज स्वभाव माना जाता है। अतः मेघनाद की युक्ति को उन्होंने विफल न करते हुए वे स्वयं कुछ देर को पाश से बँध गये। वही भाव मानस में इस प्रकार है कि–

पुनि रघुपति सैं जूझै लागा, सर छाड़हिं होइ लागहिं नागा।

ब्याल पाशवस भए खरारी, स्ववस अनन्त एक अधिकारी।।

रामजी को बँधे देखकर उनकी सेना में बड़ी खलबली मच गई। तब देवऋषि नारदजी ने गरूड़ को भेजा। वे तुरन्त ही श्रीराम जी के पास पहुंचें और उन्होंने सब माया के सर्पों को खा लिया। सेना में पुनः हर्ष छा गया। गरूड़ जी मन में विचार करने लगे कि मैंने तो यह सुना था कि रामजी मायामोह से परे परमब्रह्म परमेश्वर ही हैं। लोक हितार्थ उनका अवतार हुआ है किन्तु मुझे उनका प्रभाव कुछ भी नहीं दीखा। तुच्छ राक्षस ने उन्हें बाँध ा लिया। ज्यों–ज्यों वे विचार करते थे त्यों–त्यों ही भ्रम बढ़ता जाता था। मन में कुतर्क बढ़ाकर वे मोहवश हो गये।

यहाँ पाठक चाहें तो वे गरूड़ जी को पक्षी न समझकर एक देवता ही समझ सकते हैं। देवता विमान को प्रयोग में लाते थे। विमान का चालक भी देवता हो सकता है। श्रीहरि देवताओं के स्वामी हैं, उनके विमान का चालक अन्य विमानों के चालकों से बड़ा अधिकारी होना स्वाभाविक है। अतः उसका नाम खगराज, गरूड़ रख लिया गया हो। कोई–कोई मनुष्य सर्प भक्षी भी होते हैं, अतः गरूड़ जी भी सर्प भक्षी हो सकते हैं। श्रीहरि और कुण्डलिनी एक ही अस्तित्व के दो नाम हैं। श्रीहरि में तीनों भावों का यानी सेवक, स्वामी और साक्षीभाव का समावेश है। वे तीनों को प्रयोग में लाते हैं। श्रीराम और श्रीहरि दोनो में मानस की दृष्टि से भेद नहीं है। अतः श्रीराम भी तीनों भावों को प्रयोग में लाते हैं। उदाहरणार्थः– सेवकभाव में वे सीताजी को खोजने में विलख–विलखकर रो सकते है 'ऐहि विधि खोजत विलपत स्वामी, मनहु महा विरही अति कामी।'' स्वामीभाव में वे सब लोगों को नचा सकते हैं। ''उमा दारू जोषित की नाई, सबहिं नचावत रामगोसाँई,'' तथा साक्षी भाव में वे गुणों से परे हो जाते हैं'' गुनातीत

सचराचर स्वामी, राम उमा सब अन्तर्यामी।''

गरूड़जी, यद्यपि श्रीहरि के अत्यन्त समीप रहते थे तथापि श्रीहरि की जैसी उन्हें कुण्डलिनी की अनुभूति नहीं थी। उनमें 'मैंपन' की अधिकता थी। वस्तुतः व्यक्ति के सब काम कुण्डलिनी के माध्यम से ही होते हैं, किन्तु गरूड़जी समझते थे कि सब काम व्यक्ति ही करता है। कुण्डलिनी शक्ति, सर्प शक्ति भी कही जाती है। सर्प का भक्षण करना कुण्डलिनी की अवहेलना करना हैं, मोह में पड़ जाना हैं। देवर्षि नारदजी ने सम्भवतया गरूड़जी को कुण्डलिनी का महत्व दिखाने के लिये ब्याल पास से बँधे रामजी को बन्धन मुक्त कराने भेजा हो जिससे गरूड़जी मोह के वशीभूत होजावेंगें फिर वे भी मार्ग दर्शन चाहेंगे और अनुभूति कर सकेंगे। अस्तु मोह के अधीन हुए गरूड़जी देवर्षि नारदजी के पास पहुंचते हैं।

नारदजी ने कहा, हे गरूड़जी! ''माह मोह उपजा उर तोरें, मिंटहिं न बेगि कहें खग मोरें।।'' अतः आप ब्रह्माजी के पास जाइये। तब वे ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने कहा कि हे गरूड़जी, ''अग जगमय जग मम उपराजा। नहीं आचरज मोह खगराजा।।'' यह सारा चराचर जगत तो मेरा रचा हुआ है। जब मैं ही मायावश नाचने लगता हूँ तब आपको भी मोह हो गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हे गरूड़ तुम शंकरजी के पास जाओ, क्योंकि वही पुरूष मोह दूर कर सकता है, जिसे कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति प्रति क्षण ही होती रहती हो। शंकरजी ऐसे ही महापुरूष हैं। वे कुण्डलिनी शक्ति के अद्वितीय ज्ञाता हैं। उनके शरीर के प्रमुख अंगों में कुण्डलिनी शक्ति के प्रतीक सर्प विराज रहे हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहद, विशुद्ध, आज्ञा तथा शीर्ष उनके सभी केन्द्र सर्पों से यानी कुण्डलिनी शक्ति से आच्छादित स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। अतः आप शंकरजी के पास ही जाइये। और कहीं किसी से न पूछना।

अस्तु, जैसे ही गरूड़जी शंकरजी के पास पहुंचे वैसे ही वे तुरन्त समझ गये कि गरूड़जी को अभी यह अनुभूति नहीं है कि शक्ति सम्पन्न महापुरूष आवश्यकतानुसार प्रत्येक भाव यानी कभी सेवकभाव में तो कभी स्वामीभाव में और कभी साक्षीभाव में बर्तने का अभ्यासी होता है। उसे सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर नहीं दीखता। रामजी औरों के लिये

बँधे दिखते हैं, पर वे वस्तुतः

बन्धन से मुक्त हैं। उनकी दृष्टि में न कोई व्यक्ति तुच्छ है न बढ़िया, न कोई अधम है न उत्तम। यह सब अज्ञान है। गरूड़जी को यह अभिमान है कि मैं हरि विमान का चालक हूँ। वे अपने को बहुत गुणवान समझते हैं। अतः इन्हें काकभुशुंडि के पास भेजना चाहिये। क्योंकि वे शकुनाधम पक्षियों में हैं तो तुच्छ, पर हैं वे नम्र स्वभाव वाले तथा ज्ञानवान उनके पास जाने पर ही गरूड़जी का मोह दूर हो जावेगा। उन्हें कुण्डलिनी की भी अनुभूति हो सकेगी तब वे प्रभुलीला को देखकर मोह में न पड़ेंगे।

अतएव शंकरजी ने गरूड़जी को काकभुशुंडि जी के पास भेजा। काकभुशुंडि जी ने उनका यथोचित सम्मान करते हुए उनसे आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि हे परम भक्त, आपके पास आते ही मेरी सब शंकाऐं दूर हो गईं। मुझे रामजी के चरित्र सुनाइये। और यह भी बताने की कृपा कीजिये कि आपको इतनी उच्च स्थिति कैसे प्राप्त हुई? स्वयं शंकरजी भी अपने मुख से आपकी प्रशंसा करते हैं। कृपा करके सगुण और निर्गुण उपासना के भेद समझाइये इस पर काकभुशुंडि जी ने कहा कि हे गरूड़जी, सगुण और निर्गुण में भेद नहीं। सगुण और निर्गुण उपासना दोनों ही आवश्यक हैं। निर्गुण भक्ति से सेवक ताजा व हल्का हो जाता है। तब वह प्रभु के जगत का काम अच्छा करता है और सगुण भक्ति रामजी के लिये सेवक भाव से जगत का काम करने को कहते हैं। तदुपरान्त गरूड़जी ने पूछा कि हे सन्त शिरोमणि, कृपा करके यह भी बताने का कष्ट कीजिये कि आप मोह से कैसे निवृत हुए? मैं आपके पूर्वजन्म के वृतान्त को सुनना चाहता हूँ।

कथानक को प्रारम्भ करते हुए परम भक्त काकभुशुंडि जी गरूड़ जी के पूछने पर अपने

जन्म का वृतान्त उन्हें सुनाते हैं कि हे गरूड़जी, पिछले जन्मों में मोह ने मेरी बड़ी दुर्दशा की। मैं सदा रामजी के विमुख अवस्य रहा पर उनके विमुख रहकर मैंने कभी सुख नहीं पाया। अनेकों जन्मों में मैंने अनेक प्रकार के योग, जप,तप,दान आदि कर्म किये। सभी योनियों में मैंने घूम फिरकर

जन्म लिया है, पर इस जन्म में जैसा सुखी हूँ, वैसा सुखी कभी नहीं हुआ।

नाना जनम कर्म पुनि नाना, किये जोग, जप,तप,मख दाना।।
देखेउँ करि सब करम गोंसाईं, सुखी न भयउँ अबहिं कि नाईं।।

अब मैं आपको अपने प्रथम जन्म का हाल कहता हूँ। सुनिये, कलियुग का समय था। अयोध्या नगरी में एक शूद्र के घर मैंने जन्म लिया। मुझे शिवजी के प्रति बड़ा प्रेम था। किन्तु अन्य देवों के प्रति प्रेम तो था ही नहीं बल्कि उनकी निन्दा ही करता था। रामजी की राजधानी में रहते हुए भी मैंने उनकी कुछ भी महिमा नहीं जान पाई,रामजी की महिमा का ज्ञान तो तभी होता है जबकि वे अपने अन्दर ही निवास करते हुए अनुभव होते हैं। हे सर्पों के शत्रु गरूड़जी, बहुत काल बीतने पर भयंकर काल पड़ा। दुर्भिक्ष ने मुझे दु:खी, दरिद्री बना दिया। तब मैं तंग आकर अयोध्या को छोड़कर उज्जैन चला गया। समय पाकर मैं कुछ दिनों में फिर धनी हो गया। मैंने फिर एक शैव गुरूजी से दीक्षा ली। ये गुरूजी शिव के भक्त होते हुए भी श्रीहरि के निन्दक नहीं थे। एक दिन शिवजी के मंदिर में बैठा हुआ मैं शिव मंत्र जप रहा था। संयोग से गुरूजी भी उसी मन्दिर में दर्शनार्थ आये। मुझ में भक्ति का घमण्ड भरा था। मैंने गुरूजी को उठकर प्रणाम नहीं किया। मेरे गुरू महाराज अत्यन्त नम्र स्वभाव के थे। उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा, किन्तु मेरे मन में ऐसे भाव आये कि इस प्रकार गुरूजी को प्रणाम न करने से मैंने मर्यादा को भंग कर दिया है। शिष्टाचार के विरूद्ध काम किया है। अतः मर्यादा की कोई अवहेलना न करे, इस दृष्टि से कहीं शिवजी मुझे श्राप न दे दें कि अरे घमंडी, यद्यपि तेरे गुरूजी को स्वल्प भी क्रोध नहीं है, पर मैं तेरी धृष्टता को सहन नहीं कर सकता। सचमुच काकभुशुंडि ने जानबूझकर धृष्टता की थी। वह मन ही मन भयभीत तो हो ही रहा था कि कहीं शिवजी मुझे श्राप न दे दें। अतः उसके मस्तिष्क में श्राप जैसे ही विचार उत्पन्न होने लगे कि 'अरे पापी, तू गुरूजी के सामने अजगर की भांति बैठा ही रहा उठा नहीं। अरे दुष्ट, तेरी बुद्धि पाप से ढंक गई है, तू सर्प हो जा, एक बार नहीं हजार बार सर्प बन' मैं जानता था कि गुरूजी बड़े कृपालु हैं अत: वे मेरी ओर से शिवजी से क्षमा मांगकर मेरा श्राप से उद्धार करा देंगे और वे वही करावेंगे जिसमें मेरा कल्याण हो। परम

भक्त गुरूजी की परहित से सनी विनय सुनकर शिवजी निश्चय ही कहेंगे कि "हे विप्र, यद्यपि इसने भयानक पाप किया है पर तुम्हारी साधुता देखकर मैं इस पर विशेष कृपा करूँगा। मेरा श्राप व्यर्थ नहीं जावेगा। सर्प की योनियाँ यह अवश्य पावेगा पर किसी भी योनी में इसे जन्म–मरण का दुःख न होगा। तब शिवजी मुझे सान्त्वना देंगे कि हे शूद्र, तूने रामजी की पुरी अयोध्या में जन्म लिया है, साथ ही तूने मेरी सेवा में मन लगाया है। अब मेरी कृपा से तेरे मन मे राम भक्ति उत्पन्न होगी। मेरा एक और भी आशीर्वाद है कि तुम्हारी सर्वत्र अवाधगति होगी। तुम चाहे जहाँ आ जा सकोगे।" इस प्रकार हे गरूड़ जी, मुझे, ऐसा अनुभव हुआ कि मैंने बहुत से शरीर धारण किये पर मेरा ज्ञान नहीं गया। जिस योनी में मेरा जन्म होता मैं रामजी का भजन करना चालू रखता। मैंने अन्तिम शरीर ब्राह्मण का पाया। बचपन से युवा होने तक मैं रामजी की भक्ति में ही लवलीन रहने लगा। जब मेरा स्वप्न टूटा तो मेरी बुद्धि पलट गई। मैं शंकरजी का भक्त होने के साथ–साथ रामजी का भक्त भी हो गया। मुनियों के आश्रमों में जाता और रामजी के गुणानुवाद करता। एक दिन मैं सुमेर पर्वत पर गया वहाँ मैंने पर्वत के शिखर पर बड़ की छाया में लोमश मुनि को बैठे देखा। मैंने नम्रता से मुनि महाराज के चरणों में सिर नबाया। मुनि महाराज ने मुझसे प्रेम से पूछा हे भाई, आप किस कार्य से यहाँ आये हैं? तब मैंने कहा कि हे कृपा निधि, आप सर्वज्ञ हैं। मुझे सगुण ब्रह्म की आराधना कहिये। मुनिश्वर ने रामजी के गुणों की कुछ कथाऐं आदर से कहीं फिर वे मुझे परम अधिकारी जानकर ब्रह्म का उपदेश करने लगे कि वह अजन्मा है, अद्वैत है, निर्गुण है, रूप रहित है, अनुभव से ही जानने योग्य है। मुनि महाराज ने मुझे अनेकों प्रकार से समझाया, पर निर्गुण मत मेरे ह्रदय में नहीं बैठा। मुनि महाराज के चरणों में सिर नवाकर मैंने कहा हे भगवन् मुझे सगुण ब्रह्म की उपासना ही कहिए। मुझे वह उपाय कहिये, वही उपदेश दीजिए जिससे मैं रामजी को अपनी आँखों से देख सकूँ। मुनि महाराज ने सगुणमत का खण्डन करके निर्गुण का निरूपण किया। मैंने उत्तर प्रत्युत्तर किया। मुनि महाराज बारबार क्रोध सहित ज्ञान का निरूपण करने लगे।

तब मैं बैठा–बैठा अपने मन में अनेकों प्रकार की युक्तियाँ

विचारता था। मुनि महाराज के उपदेश को मैं नहीं सुनता था। तब मुनि क्रोध युक्त वचन बोले–अरे मूढ़ मैं तुझे सर्वोच्च्व शिक्षा देता हूँ तो भी तू उसे नहीं मानता, मेरे सत्य वचन पर विश्वास नहीं करता। कौए की भांति सभी से डरता है। तुझे अपने पक्ष का बड़ा हठ है, अतः तू कौआ हो जा। मैंने अपने को कौआ ही समझ लिया। मुनि महाराज के चरणों में सिर नबाकर शीघ्र ही चल दिया। किन्तु प्रभु कृपा से मुनि महाराज की बुद्धि पलट गई और यह समझकर उन्होंने मुझे पुनः बुलाया कि इसको श्रीराम के चरणों में विशेष विश्वास हैं। मुझे प्रेम से सन्तुष्ट क़िया तथा राम मंत्र दिया और विकार रहित बालक के रूप का

ध्यान बताया। अन्त में मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया कि श्रीराम जी के चरणों में तुम्हारा नित्य नया प्रेम हो। तदन्तर मुनि महाराज की विनती करके उनसे आज्ञा पाकर चरणों में बार–बार सिर नवाकर इस आश्रम में आया। यहाँ मैं नित्य ही रामजी के गुणों का गान करता हूँ।

हे गरूड़जी, यद्यपि लोमश मुनि महाराज ने आशीर्वाद दिया तथा मुझे राम मंत्र देकर कृतार्थ किया तथापि उनका क्रोध से दिया नाम मेरे मस्तिष्क से हटता नहीं था। निर्गुण का निरूपण करते समय उन्होंने कहा था कि 'तत्वमसि' जल और जल की लहर की भांति उसमें और तुझमें भेद नहीं है 'सो तैं ताहि तोहिं नहिं भेदा, बारि बीचि इव गावहि वेदा।।" मेरे मन में मुनि महाराज के ये शब्द गूँजते रहते थे कि यदि मुझमें और ब्रह्म में अथवा ब्रह्मरूपी राम में और मुझमें भेद नहीं हैं तो फिर मुझमें और कौआ में भी भेद नहीं हैं। कौआ को भले ही शकुनाधम कहा जावे और मानव को कितना ही उच्च कहा जावे, ब्रह्म तो सब में समान रूप से है। अतः अब मैं अपने को कौआ कहलाने में गर्व समझता हूँ। कौआ उड़कर चाहे जहाँ आ जा सकता है, वैसे ही अब मैं अपनी मानसिक विचारधारा से यहाँ बैठे–बैठे ही अयोध्या में रामलीला देख सकता हूँ। हे गरूड़जी यही विचारधारा पुष्ट होने लगी। एक दिन मैं अपनी मानसिक विचारधारा में इतना तल्लीन हो गया कि मुझे बाहर सुध–बुध नहीं रही। स्वप्न में मैं अयोध्याजी पहुँच गया। वहाँ मैं देखता हूँ कि राजा दशरथ के आंगन में बालक रामचन्द्र जी अपनी परछाहीं देखकर नाच रहे हैं। मैं कौआ पक्षी बन गया हूँ, उनके

आसपास फिरने लगा हूँ। वे अनेक प्रकार के मेरे संग खेल करने लगे। किलकारी मारकर जब वे मुझे पकड़ने दौड़ते और में उनके पास से दूर को भागता तब वे मुझे पुआ दिखलाते थे। मेरे निकट आने पर रामजी हँसते थे और भाग जाने पर रोते थे। मैं मन में सोचने लगा कि रामजी तो निरे बच्चे हैं। इनमें ब्रह्म जैसी कोई बात नहीं दिखी। मेरे मन की बात समझकर वे हँसते हुए मुझे पकड़ने दौड़े, तब मैं भाग चला। मैं ब्रह्मलोक तक भागता चला गया, किन्तु यह देखकर मेरी बुद्धि भ्रम में पड़ गई कि जब भी मैं पीछे फिरकर देखूँ तो श्रीरामजी की भुजा में और मुझमें केवल दो ही अंगुल का अन्तर दीखता। मैं भयभीत हो गया। मुझे व्याकुल देखकर रामजी हँस पड़े। उनके हँसते ही मैं तुरन्त उनके मुख में चला गया। अब मुझे उनके पेट में बहुत से ब्रह्माण्डों के समूह दीखे जो एक से एक बढ़कर थे। करोड़ों ब्रह्माजी,शिवजी, अनगिनत तारागण, सूर्य, चन्द्रमा, लोकपाल, यम, काल, विशाल पर्वत,भूमि, समुद्र, नदी, तालाब, वन तथा नाना प्रकार की सृष्टि का विस्तार देखा। देवता, मुनि, सिद्ध,नाग, मनुष्य, किन्नर, तथा चारों प्रकार के जड़ और चेतन जीव देखे। जो न कभी देखा था, न सुना था और जो कभी मन में भी नहीं आया था, ऐसी अद्भुत सृष्टि देखी। एक–एक ब्रह्माण्ड में मैं एक–एक सौ वर्ष रहता। इस प्रकार मैं अनेकों ब्रह्माण्ड देखता फिरता फिरा। सब जगह मैंने अपने को भी देखा। सब जगह रामलीला देखता। सब ब्रह्माण्डों में मैंने जो–जो रूप देखे वे भिन्न–भिन्न प्रकार के थे, किन्तु रामजी को मैंने दूसरी तरह का नहीं देखा, वे सदा एक ही रूप में दीखते थे। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि इन ब्रह्माण्डों में घूमते हुए मानों एक सौ कल्प हो गये। अन्त में घूमता–घूमता मैं अपने आश्रम में ही आ पहुँचा। वहाँ कुछ काल बिताकर मैंने सुना कि रामजी का जन्मोत्सव अयोध्या में मनाया जा रहा हैं। मैं भी उत्सव देखने आ गया। अब कुछ–कुछ मुझे सुध सी आने लगी और मैं बार–बार विचार करता था पर मेरी बुद्धि मोह में पड़ गई थी। जो कुछ और जितने काल तक मैंने देखा उस सम्बन्ध में मुझे ऐसा लगा कि केवल दो ही घड़ी में मैंने यह सब देखा। मैं बहुत ही व्याकुल हो गया। मुझे व्याकुल देखकर रामजी को हँसी आ गई। उनके हँसते ही मैं उनके मुख से पुनः बाहर आ गया। रामजी मुझसे फिर वैसे ही खेल करने लगे

जैसे पहले कर रहे थे। स्वप्न में ही मुझे ऐसा लगा कि अब मेरा स्वप्न टूट गया। मैं पूर्ण सजग हो गया।

इस विचित्र स्वप्न को देखकर मेरा मन अशान्त हो गया। मैं बहुत धैर्य लाने का प्रयास करता किन्तु मेरी अशान्ति दूर नहीं होती थी। तब में प्रेमाकुल होकर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा। रामजी ने मेरे सिरपर अपना कर कमल रख दिया। कृपालु रामजी ने सब दुःख हर लिया। प्रभु की भक्त वत्सलता देखकर मेरे नेत्रों में जल भर आया। मैंने आनन्द में विभोर होकर बहुत प्रकार से विनती की। मेरी प्रेमयुक्त वाणी सुनकर रामजी मुझसे कोमल वचन बोले। हे काकभुशुंडि, तू अब ऋषि,सिद्धि जो कुछ चाहे माँग लें। किन्तु मैनें यही मांगा कि हे प्रभु, मैं तो आपका भक्त होना चाहता हूँ। मैं तो यही चाहता हूँ कि मैं आपके सन्मुख सदा रहूँ, अपने कामों को आपके ही समझूँ और आपके लिये ही उन्हें करता हुआ जीवन व्यतीत करूँ। "राम भगति रति गत मद मोहा" भक्ति को सबसे दुर्लभ बताई गई है, वही मुझे प्रदान कीजिए। रामजी ने कहा तू जो चाहता है, उसे ही तू ले।

सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्राण सम।

अस विचार भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब।।

जैसे ही मुझे भक्ति का वरदान प्राप्त हुआ कि मेरे आनन्द का ठिकाना न रहा। इसी स्थिति में मेरा स्वप्न टूट गया। यह जानकर मुझे महान आश्चर्य हुआ कि मैं कहीं आया न गया और सब कुछ मैंने अपने में ही पा लिया। मेरे अन्दर ही रामजी हैं और रामजी के अन्दर संपूर्ण विश्व ही है, वास्तव में, प्रभु सत्ता ही प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। उनकी ही लीला सर्वत्र हो रही है। सेवक भाव से आदेशों का पालन हो रहा है और साक्षीभाव से स्वामीपन और सेवकभाव का क्रिया कलाप अनुभव होता रहता है।

हे गरूड़जी, मैंने अपना अनुभव कह दिया है। आप भी अनुभव कर सकते हैं कि सेवक जो कुछ काम करता है, स्वामी के लिये करता है, वह स्वयं कर्म का कर्त्ता नहीं होता। सेवक भाव से काम करने को ही भजन करना समझिये। श्रीहरि और कुण्डलिनी में कोई भेद नहीं हैं 'हरि व्यापक

सर्वत्र समाना' अध्याय में पाठक पढ़ ही चुके हैं। जो सत्ता सब के अन्दर व्याप्त है, उसी के द्वारा विचारों की समस्त क्रियाएँ होती हैं। सत्ता का कोई रूप नहीं है। उसके द्वारा जब विचारों की मानसिक अथवा शारीरिक क्रिया होती है तब व्यक्ति को स्पष्ट अनुभव होता है कि क्रियाएँ जिसके माध्यम से हो रही हैं वह अन्दर ही व्याप्त हैं। इस प्रकार समझने को ही सत्ता का दर्शन करना कहा जाता हैं। स्मरण करते ही उसका भान होने लगता है, शरीर पुलकित होने लगता है और हम उसके आधीन होने लगते है। मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। काकभुशुण्डि की बातों में गरूड़ इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें भी प्रत्यक्ष अनुभूति हो गई वे कहते हैं कि–

मैं कृत्कृत्य भयउँ तब बानी, सुनि रघुवीर भक्ति रस सानी।
राम चरन नूतन गति भई, माया जनित विपति सब गई।।

कहो गरूड़जी, मैंने जो अपना अनुभव कहा कि बिना सत्ता को जाने उस पर विश्वास नहीं होता, यह बिलकुल ठीक है न । अनुभूति कर लेने से सत्ता में विश्वास हो जाता है और उसकी भक्ति करने में स्थिरता नहीं आ पाती। जैसे कि हे गरूड़जी 'जल की चिकनाई ठहरती नहीं। अस्तु काकभुशुण्डि जी का यह अनुभव निश्चय ही सत्य है कि–

जाने बिनु न होई परतीती, बिनु परतीति होई नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई जिमि खगपति जल की चिकनाई।।

यथार्थ है।

मम दरसन फल परम अनूपा

तुलसीदास जी महाराज महान् अनुभवी विद्वान् संत थे। साथ ही, वे लोकहित की दृष्टि से आध्यात्मिक तथा सामाजिक उलझनों को भी दूर कर व्यवहारिक मार्ग दर्शन कराने में भी निपुण सिद्ध हुए। जहाँ समाज को सन्मार्ग पर चलने के लिये मानस में ऐसी–ऐसी युक्तियाँ सुझाई हैं कि जन साधारण के लिये उसे 'ताजीरात हिन्द' ही कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति नहीं कही जा सकती। सत्य ही आध्यात्मिक पहलुओं की उलझी गुत्थी को भी सुलझा देने का मानस में तुलसीदास जी ने प्रयास किया हैं। उन्होंने अनुभव किया कि ब्रह्म की उपासना में भी सर्वत्र मतभेद हो गया है। कुछ लोग ब्रह्म के स्वरूप को निर्गुण बताते हैं, तो कुछ लोग सगुण स्वरूप को ही महत्वपूर्ण बताते हैं। दोनों प्रकार के उपासकों में भी उत्तरोत्तर संघर्ष बढ़ रहा है। श्री लोमश जी व काकभुशुण्डिजी की वार्ता पाठक पिछले अध्याय 'जाने बिनु न होइ परतीती' में पढ़ ही चुके हैं। सगुण उपासना का पक्षपाती होने से विचारे बिप्र को कौआ कह दिया।

इस उलझी हुई गुत्थी को सुलझाने के लिये तुलसीदास जी मानस में अपना अनुभव व्यक्त करते हैं। उनके मत से "अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।" निर्गुण और सगुण के दो स्वरूप हैं। वे दोनों ही अकथनीय, अथाह, अनादि और अनुपम हैं।

एक दारुगत देखिअ एकू। पावक समजुग ब्रह्म विवेकू।।

निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का ज्ञान अग्नि के समान हैं। निर्गुण उस अग्नि के समान है जो काठ के भीतर है, परन्तु दीखती नहीं और सगुण उस अग्नि के समान हैं, जो स्पष्ट दीखती है।

उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें।।

ब्रह्म के दोनों स्वरूपों को जानना बड़ा ही कठिन है, परन्तु नाम स्मरण से दोनों के स्वरूप को समझ जाना बहुत ही सरल है।

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोइ प्रकटत जिमि मोल रतन तें।।

नाम का निरूपण करके यानी नाम के रहस्य को ठीक–ठीक

समझकर श्रद्धापूर्वक यदि नाम जपा जाय तो जापक को अपने अन्दर ही सत्ता की अनुभूति हो सकती है। जिससे निर्गुण और सगुण स्वरूप के प्रभाव का जानना सरल हो जावेगा जैसे रत्न की पहिचान हो जाने पर उसके मूल्य का आँका जाना सरल हो जाता है।

विचारणीय है कि यदि ब्रह्म के विराट रूप का चिन्तन किया जाय तो अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणियों को मिलाकर एक इकाई अनुभव होगी। एक नामधारी व्यक्ति उसका एक सूक्ष्मतम अविभाजित अंग होगा। साथ ही, ब्रह्म व्यापक तत्त्व है, अतः एक व्यक्ति में भी उसका अस्तित्व होना चाहिये। इस अस्तित्व के स्वरूप को यदि व्यक्ति स्वयं ही जानना चाहे तो उसका जानना महान् महान् कठिन है। कितना ही विचार करो, पर उसका स्वरूप समझ में नहीं आता। मन,बुद्धि से परे अनुभव होता है–

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।

माया से परे यानी विचारों से परे बुद्धि पहुँचती ही नहीं है। विचारों से परे ब्रह्म का स्वरूप होने से ही इस स्वरूप को निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है। अतः निर्गुण ब्रह्म का न तो चिन्तन हो पाता है और न उस पर ध्यान जमता है। हाँ, यदि राम नाम का जप किया जाय और सच्चाई से पूर्ण समर्पित होकर किया जाय तो अनुभूत तथ्य है कि अपने अन्दर ही उस भक्ति का अनुभव होने लगता है, जिसके कि अनुभव होते ही शरीर पृथक् दीखता है, शारीरिक व मानसिक क्रियाएँ अपने आप होती दीखती हैं। जापक को अपना अस्तित्व पृथक् अनुभव होता है। वह साक्षीवत् अपने को अनुभव करता है। इस प्रकार राम नाम का जप उस शक्ति की अनुभूति करा देता है जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहा जाता है, जिससे अपने अन्दर ही निर्गुण ब्रह्म की जानकारी सहज ही हो जाती है। अतः नाम का प्रभाव निर्गुण ब्रह्म से बड़ा है ऐसा कहना असंगत नहीं। इस दृष्टिकोण से तुलसीदास जी का मत भी सर्वथा मान्य है कि–

निर्गुन तें एहि भाँति बड़, नाम प्रभावु अपार।
कहउँ नाम बड़ राम तें, निज विचार अनुसार।।

इष्ट कोई भी हो यदि सच्चाई से पूर्ण समर्पित होकर उसका

नाम जपा जाय तो निश्चय ही शक्ति यानी कुण्डलिनी की अनुभूति हो जावेगी।

अब तुलसीदास जी सगुण ब्रह्म से भी राम नाम बड़ा है, इस रहस्य को भी स्पष्ट करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि सगुण उपासकों की धारणा के अनुसार ब्रह्म स्वयं देह धारण करके अपने भक्तों का कल्याण करते हैं अन्यथा कल्याण होना कठिन है। जैसे श्रीराम जी ने मनुष्य शरीर धारण करके स्वयं कष्ट सहकर साधुओं को सुखी किया। किन्तु, राम नाम के अपने वाले भक्तगण प्रेम के साथ नाम जप कर सहज ही (कुण्डलिनी शक्ति की) अनुभूति का प्रतिक्षण ही आनन्द और कल्याण के घर हो जाते हैं–

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी।।
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल वासा।।

सगुण ब्रह्म श्रीराम जी थे। देखिये उन्होंने तो रीछ और बन्दरों की सेना एकत्रित की और समुद्र पर पुल बाँधने के लिये महान परिश्रम किया, जबकि राम के नाम के जापक भक्तों के तो सांसारिक दुःखों का समुद्र सहज ही सूख जाता है। हे सज्जन गण! मन में विचार कीजिये कि राम नाम बड़ा है अथवा सगुण ब्रह्म के रूप में देहधारी रामजी अधिक बड़े हैं। और भी देखिये कि–

राम सकुल रन रावण मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा।।
राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनिवर बानी।।

जबकि–

सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोहदल जीती।।
फिरत सनेहँ मगन सुख अपने। राम प्रसाद सोच नहिं सपने।।

और भी किंचित विचार कीजिये तो यह तथ्य भी स्पष्ट हो जावेगा कि ब्रह्म की जो व्यापकता है वह राम–नाम में समाई हुई है–

बंदउँ राम नाम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।।

राम शब्द तीन अक्षरों से बना हैं। 'र', 'आ' और 'म'। इनमें से

'र' कृशानु यानी अग्नि का बीज है, 'आ'। भानु यानी सूर्य का बीज है और 'म' हिमकर यानी चन्द्रमा का बीज है। अतः समस्त प्राणियों के जीवन का आधार राम हैं, जिसकी सत्ता से अग्नि, सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व है, जिनसे शरीर की गरमाई प्राप्त होती है। बिना शरीर की गर्माई के शरीर मृत है। अतएव प्रत्येक प्राणी का आधार गरमाई के रूप में राम हैं, जो प्राणी मात्र में व्याप्त हैं, जो सब में रम रहा है। उसी रामजी के नाम की मैं वन्दना करता हूँ।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई।।

इस प्रकार निर्गुण ब्रम्ह तो मन बुद्धि से परे हैं, और सगुण ब्रम्ह देहधारी राम कैसे होने से उनके नर सदृश चरित्र भ्रम उत्पन्न करते हैं। जैसे शिवजी की अर्द्धांगिनी सती भ्रम में पड़ जाती हैं। इस प्रकार दोनों ब्रम्ह के स्वरूपों से राम का नाम बड़ा है। यह वर देने वालों को भी वर देने वाला है। श्री शिवजी ने अपने ह्रदय में यह जानकर सौ करोड़ रामचरित्र में से इस राम नाम को सार रूप से चुनकर ग्रहण किया है।

ब्रह्म राम तें नाम बड़, वर दायक वर दानि।

रामचरित शत कोटि महँ, लिय महेश जिय जानि।।

वस्तुतः शिवजी ने भली प्रकार से अनुभव कर पार्वती से कहा कि हे गिरिजा, निर्गुण ब्रम्ह के रूप में राम के स्वरूप को जानने के लिये कितना भी मन दौड़ाया जाय, बुद्धि लगाई जाय, चतुराई से वाणी व्यक्त की जाय, कैसा भी तर्क दिया जाय पर उसका स्वरूप नहीं जाना जाता, सदा ही अज्ञात ही रहता है, ऐसा मेरा मत है–

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी, मत हमार अस सुनहिं सयानी।।

इस प्रकार सगुण ब्रह्म के रूप में राम को ब्रह्म मान लेना कठिन है, उनकी नर लीला बुद्धि में भ्रम डाल देती है। हाँ यह अनुभूत तथ्य है कि पूर्ण समर्पित भाव से राम के मंत्र ऊँ रां रामाय नमः अथवा केवल राम को ही विशुद्ध प्रेम से मन लगाकर जप किया जाय तो कुछ समय में ही जापक की अपने समस्त शरीर में व्याप्त कुण्डलिनी शक्ति के रूप में राम अनुभव हो जाते हैं। और यह अनुभव प्रतिक्षण ही रहता है। इष्ट के स्मरण करते

ही जापक शक्ति के प्रभाव के आधीन हो जाता है, और उसे अनुभव होने लगता है कि वह उसके आधीन सेवकवत् है। वस्तुतः समस्त शारीरिक तथा मानसिक कार्य शक्ति ही करा रही है। कुण्डलिनी शक्ति के रूप में राम का अनुभव श्रद्धा व लगन से राम नाम के जप से तुरन्त होता है। और एक बार अनुभूति होने पर प्रतिक्षण ही अनुभव होता रहता है। साथ ही उसकी सत्ता समस्त शरीर में व्याप्त भी अनुभव होती है। हाँ, आँख से तो कुण्डलिनी के रूप में राम नहीं दीखते पर उनके मार्ग दर्शन की क्रियाऐं स्पष्ट अनुभव हो जाती हैं। इस प्रकार जापक को प्रतीति हो जाती है। शक्ति के प्रति प्रेम भी सहज ही होने लगता है, और राम की भक्ति में दृढ़ता आने लगती है।

कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति के उपरान्त जापक स्पष्ट समझ जाता है कि इस शक्ति को ही श्रीहरि अथवा श्रीराम कहा जाता है। जब जापक का 'मैंपन' स्वामी के लिये कर्म करने में लगा रहता है तब कुण्डलिनी शक्ति का अस्तित्व गौण रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही जब मैंपन स्वामी के रूप में आदेश देता है तब कुण्डलिनी शक्ति मैंपन के यानी सेवक भाव के और अधिक पास ही अनुभव होती है। क्योंकि मैंपन का ध्यान आदेश समझने में तल्लीन हो जाता है, इसी प्रकार जब साक्षीभाव में बर्तता है। साक्षीभाव में हो जाने से उसे शक्ति अत्यन्त ही समीप यानी उससे सटी हुई सी अनुभव होती है। इस प्रकार यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति साक्षीभाव, स्वामीभाव तथा सेवकभाव में पृथक–पृथक सी लगती हैं, तथापि सचमुच शक्ति प्रत्येक स्थिति में वहीं होती है, पृथक् नहीं। रामचरित मानस का प्रेमी कुण्डलिनी शक्ति को श्रीहरि कह सकता है। ऐसा समझने से सेवकभाव, स्वामीभाव तथा साक्षीभाव में उसे श्रीहरि का अस्तित्व वैसा ही भान होगा। और यदि कोई भक्त श्रीहरि न कहते हुए कुण्डलिनी शक्ति को श्रीराम कहे तो उसे श्रीराम का अस्तित्व श्रीहरि जैसा ही भान होगा। इस प्रकार कुण्डलिनी के रूप में ही श्रीहरि अथवा श्रीराम का दर्शन अपने अन्दर ही अनुभव होने पर फिर रामजी को बाहर देखने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जिससे जापक मिलना चाहता है वह जब उसे अपने अन्दर ही मिल जाता है तो फिर उससे मिलने के लिये या उसमें मिल जाने के हेतु योग आदि करना अनावश्यक है। योगी लोग रामजी से मिलने के लिये ही तो

योगाभ्यास करते हैं, मिल जाने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। अनुभूति के उपरान्त सत्संग, भजन, योग सतोगुणी काम है, ऐसा लगने लगता है। सेवकभाव से रामजी के लिये काम करना वास्तविक भक्ति समझ में आने लगती है। अतः तुलसीदास जी श्रीराम जी के मुख से ही ऐसी भक्ति का मार्ग गुरूजन आदि पुरवासियों को सुनवाते हैं, और उनकी स्वीकृति से उसकी पुष्टि कराते हैं।

रामजी वनवास की अवधि पूरी करके जब अयोध्या में आये तब उनका राज्याभिषेक हो जाता है। राजगद्दी पर वे अधिकार पूर्वक बैठ जाते हैं। सुअवसर पाकर एक दिन वे प्रजा के प्रतिष्ठित लोगों को एकत्रित करते हैं, और भक्ति का प्रसंग सामने रखते हैं, उनकी स्वीकृति लेते हैं फिर प्रसन्नता से उन्हें विदाई देते हैं। प्रसंग इस प्रकार है–

एक बार रघुनाथ बोलए। गुरू द्विज पुरवासी सब आऐ।।
सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी।।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहिं सोहाई।।
सोई सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई।।
जो अनीति कछु भाखों भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।
कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख,जप,तप,उपवासा।।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ संतोष सदाई।।
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा विस्वासा।।
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरण वस्य मैं भाई।।
सुनत सुधा सम वचन राम के। गहे सबनि पद कृपा धाम के।।
जननि जनक गुर बंधु हमारे। कृपा निधान प्रान ते प्यारे।।
असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मात पिता स्वारथ रत ओऊ।।
सबके वचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ ह्रदय हरषाने।।
निज–निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई।।

राज्याभिषेक के उपरान्त राजाधिराज राम ने गुरू महाराज विप्र

मंडली, तथा प्रतिष्ठित नागरिकों को एकत्रित करके कहा 'हे पुरवासियों' मेरी बात सुनिये। यह बात मैं अपने ह्रदय में अपने को श्रेष्ठ समझकर नहीं कहता हूँ, न अनीति की बात कहता हूँ और न इसमें कुछ प्रभुता ही है। इसलिये निडर होकर मेरी बातों को सुनलो और यदि आपको अच्छी लगें तो उनके अनुसार चलना। वही मेरा सबसे 'प्यारा सेवक है, जो मेरी आज्ञा माने। हे भाई, यदि मैं कुछ अनुचित बात कहूँ तो बेखटक मुझे रोक देना।

आजकल भक्ति के मार्ग को बहुत कठिन कहा जाता है कि प्रभु भक्ति करना सरल बात नहीं है, योगाभ्यास करना होता है, जप करना पड़ता है, यज्ञ किये जाते हैं तथा उपवासादि करना अनिवार्य है। इनमें अत्यन्त श्रम करना होता है, अतः जन साधारण की दृष्टि से भक्ति मार्ग पर कोई बिरला ही चल सकता है। परन्तु चौदह साल के बनवास में जो भक्ति की विधि मुझे अनुभव हुई, वह अत्यन्त ही सरल है। इसमें इतना ही आवश्यक है कि जो भी भक्ति करना चाहता है, उसका स्वभाव सरल होना चाहिये और मन में कुटिलता नहीं होना चाहिये। उचित परिश्रम करने के उपरान्त जो कुछ भी मिले उसी में सदा संतुष्ट रहे। सरल स्वभाव से अभिप्राय है कि बिना हेर–फेर के जैसी बात हो वैसे ही कहे। जैसे कोई आपके हाथों के बारे में पूछे कि ये हाथ किसके हैं, तो आप यही कहें कि मेरे हैं, किन्तु मन में यही कहें कि जिसने मुझे बनाया है उसके हैं। इस प्रकार कहने व समझने से कुटिलता नहीं रहेगी। इतः आप कहिये कि भक्ति मार्ग अत्यन्त सरल है अथवा कठिन, इसमें कौन सा विशेष परिश्रम है।

विचारणीय है कि 'सरल सुझाव न मन कुटलाई' में ही भक्ति का गूढ़ रहस्य छिपा है। एक बार एक भक्त सज्जन एक बालक को साथ लिये हुए मुझसे मिलने आये। मैंने उनसे पूछा, कहिये, क्या कार्य है? वे बोले कि इस बच्चे को आप अपने स्कूल में भर्ती करवा दीजिये। मैंने सहज भाव में उनसे पूछा कि यह बच्चा किसका है? उन्होंने शिष्टाचारानुसार कहा कि 'महाराज, आपका ही है। तब मैंने कहा कि यदि बच्चा मेरा है तो इसके भर्ती कराने की आपको चिन्ता क्यों है? मेरे बच्चे की तो चिन्ता मुझे ही होनी चाहिए। यह सुनकर उन्होंने कहा कि महाराज आप तो अप्रसन्न हो गये और फिर कहा कि महाराज, यह बच्चा भगवान का है। मैंने फिर उनसे कहा

कि भाई साहब, क्यों झूठ बोल रहे हो? यदि बच्चा भगवान का है तो भरती के फार्म पर पालक के स्थान पर क्या भगवान् हस्ताक्षर करने आवेगें? मैंने उनसे फिर निवेदन किया कि महाशय जी, सच–सच कहिये कि आप अपने मन में किसका बच्चा समझते हैं? तब वे बोले महाराज, भीतर से तो बच्चे को मैं अपना ही मानता हूँ। तब मैंने कहा श्रीमान् जी आप जानते हैं कि परमात्मा घट–घट वासी हैं। वह अन्तर्यामी हैं। उस अन्तर्यामी के सामने झूँठ बोलकर क्यों पाप चढ़ा रहे हों? जिस बालक ने न तो आपके कहने से जन्म लिया, न आपने उसके किसी अंग को बनाया, एक रोम तक भी आपने नहीं बनाया, फिर जिसे भगवान् ने बनाया है, उसे उनके सामने ही अपना कहते हो, क्या यह भगवान् की भक्ति है। ऊपर से तो आप सरल स्वभाव के दीखते हैं पर भीतर से आपके मन में कुटिलता हैं। सत्य तो यह है कि आप मुझसे अथवा औरों से तो स्पष्ट कहिये कि बच्चा मेरा है और मन में उसे भगवान् का समझिये। इस प्रकार से बर्तने को कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का सरल स्वभाव है। इसके मन में कुटिलता नहीं है। इस प्रकार रामजी ने भक्ति करने की सरल विधि समझाई, फिर कहा कि–हे भाइयो, मेरा भक्त बनकर यदि कोई मेरी कही बात के अनुसार न चले, तथा और लोगों के मत के अनुसार ही चले, तो उसकी आस्था मुख पर बहुत ही निर्बल है। बस, इतना ही मुझे कहना था। अब बहुत बात बढ़ाकर क्या कहूँ? मुझे तो ऐसी भक्ति का आचरण अच्छा लगता है। ऐसे भक्त के ही मैं वश में हूँ।

श्री रामचन्द्र जी के अमृत के समान वचन सुनकर सबने कृपाधाम के चरण स्पर्श किये और कहा कि–

हे कृपानिधान! आप हमारे माता–पिता गुरू, भाई सब कुछ हैं और प्राणों से भी अधिक प्रिय है। हे महाराज, ऐसी शिक्षा आपके अतिरिक्त कोई नहीं दे सकता, माता–पिता हितैषी होते हैं और शिक्षा भी देते हैं, परन्तु वे स्वार्थपरायण ही होते हैं। इस कारण वे आपके जैसी परम हितकारी शिक्षा नहीं देते। इस प्रकार गुरूजन आदि सभी उपस्थित जन समूह के प्रेम रस में सने हुए वचन सुनकर श्रीराम जी हृदय में यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए कि मेरी बात सर्वमान्य सिद्ध हुई हैं। फिर वे आमंत्रित

लोग प्रभु की आज्ञा लेकर अपने–अपने घर गये। रास्ते भर वे इसी सुन्दर चर्चा पर अपने विचारों का आदान–प्रदान करते रहे।

इस प्रकार तुलसीदास जी भक्ति की विधि श्रीराम जी के मुखारबिन्द से कहलाकर अब यह भी श्रीराम जी के मुख से वे स्पष्ट कराना चाहते हैं कि योगियो की दुर्लभ गति से क्या अभिप्राय है तथा जन साधारण जिस नवधा भक्ति को प्राप्त कर अपने को धन्य मानता हैं उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। साथ ही, भक्त लोग प्रभु के दर्शन करने को लालयित रहते हैं, तो वे किस प्रकार का दर्शन करते हैं? वास्तव में दर्शन किसका होता है और दर्शन करने का क्या फल होता है? इन सब रहस्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि से तुलसीदास जी अब शबरी का प्रसंग उपस्थित करते हैं।

सीता जी का हरण हो चुका है और श्रीराम और लक्ष्मण जी उन्हें ढूँढ़ते–ढूँढ़ते शबरी के आश्रम में पहुँचें। शबरी पूर्व से ही उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। जैसे ही वे आश्रम में आये कि उसने शिष्टाचारानुसार उनका स्वागत किया और अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल और फल लाकर उनको अर्पण किये। प्रभु ने बार–बार प्रशंसा करके उन्हें प्रेम सहित खाया। फिर वह हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी हो गई और उनकी स्तुति करना चाहती थी। रामजी को देखकर उसका प्रेम अत्यन्त बढ़ गया। वह बोली कि हे महाराज मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? मैं नीच जाति की अत्यन्त मूढ़ हूँ।

पानि जोरि आगें भई ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी।।
केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी, अधम जाति मैं जड़मति भारी।।

तब श्रीरामचन्द्र जी ने कहा– हे भामिनी, मेरी बात सुन। मैं तो केवल एक भक्ति ही का सम्बन्ध मानता हूँ, अर्थात् जो सेवक भाव से मेरे लिये ही सब कार्य करता है उसको ही मैं अपना प्रिय भक्त मानता हूँ।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानऊँ एक भगति कर नाता।।

हे शबरी, गुरूजन तथा साधु सन्तों से जैसी नवधा भक्ति सुनी है तूने उसी का पालन किया है। अब मैं तुझे उसका ठीक–ठीक अभिप्राय कहता हैं। तू सावधान होकर सुन और ठीक लगे तो मन में धारण कर तथा

उसके अनुसार ही आचरण कर–

नवधा भगति कहऊँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरू मन माहीं।।

इस प्रकार शबरी के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर अब रामजी उसे नवधा भक्ति सुनाते हैं तथा उसका अभिप्राय समझाते हैं। देखो शबरी, तूने जैसी नवधा भक्ति सुनी है और उसे अपनाई है, वह तो इस प्रकार है कि–

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा, दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरू पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।
छठ दम शील विरति बहु करमा। निरत निरंजन सज्जन धर्मा।।
सातवँ सम मोहि में जग देखा। मोतें अधिक संत कर लेखा।।
आठवँ यथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखे परदोषा।।
नवम सरल सब सन छल हींना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।।
नव महुँ एकहु जिन्ह कें होई। नारि पुरूष सचरांचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़तोरें।।
जोगि वृन्द दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भई सोई।।

अब मैं तुझे नवधा भक्ति की प्रथम भक्ति का भाव समझाता हूँ, उसे भी सुन, 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' का अभिप्राय वैसे तो यही है कि सन्तों का संग किया जाय, उनके पास उठना–बैठना चाहिये। किन्तु यह भी जानना चाहिये कि किन व्यक्तियों को सन्त कहा जाता है। काकभुशुण्डि जी और गरूड़ का सम्वाद तूने सुना ही है। काकभुशुण्डि जी ने गरूड़ के सात प्रश्न पूछने पर उनके उत्तर देते हुए संत की पहिचान बताई है कि–

पर उपकार भजन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि हे गरूड़ जी मन वचन और शरीर से परोपकार करना, यह संतों का सहज स्वभाव होता है। यह तो लोकमत की

बात उन्होंने कही। अब वे ही वास्तविकता की बात कहते हैं कि वस्तुतः व्यक्ति कुछ नहीं करता है। प्रभु की माया ही सब कुछ करती हैं। व्यक्ति तो निमित्त–मात्र है। वह कर्म का कर्त्ता नहीं। परोपकार का कार्य केवल अभिनयमात्र हैं। इतना कहकर रामजी शबरी से फिर कहते हैं कि देखो शबरी नवधा भक्ति को जैसे और भक्त करते हैं वैसी तो तुम करती ही हो। तुम संतों का संग सदा करती हो अतः तुम्हारे में प्रथम भक्ति तो हैं ही। फिर तुमको मेरी कथा–प्रसंगों को श्रवण करने में बहुत प्रेम हैं इस प्रकार –दूसरी रति मम कथा प्रसंगा' यह दूसरी भक्ति भी तुम में है। तुम गुरूजी की सेवा में रत रही हो और तुममें सेवा करने का मान भी नहीं हैं, अतः तीसरी भक्ति भी तुम में है। तुम निष्कपट भाव से मेरे गुण समूहों का गान करती रहती हो, इसी प्रकार तुम में चौथी भक्ति भी हैं। तुम मेरे नाम के मंत्र को जपती हो और मुझमें दृढ विश्वास रखती हो कि प्रभु अवश्य कृपा करेंगे, यह पाँचवी भक्ति भी तुम में हैं। तुम इन्द्रियों को उच्छंखल नहीं होने देती, तुम्हारा चरित्र भी उज्जवल है, स्वभाव सरल है, और सांसारिक कामों में भी तुम अधिक रूचि नहीं रखती, तुम्हें वैराग्य भी है और निरंतर सन्त पुरूषो जैसा ही आचरण करती हो, इस प्रकार छठी भक्ति 'छट दम सील विरति बहु करमा, निरत निरन्तर सज्जन धर्मा' भी तुम में है। तुम सम्पूर्ण जगत को सम भाव से मुझमें ओतप्रोत देखती हो, और सन्तों को मुझसे भी अधिक करके मानती हो, यह सातवीं भक्ति भी तुम में है। तुम्हें जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसी में तुम सन्तुष्ट रहती हो और स्वप्न मे भी पराये दोषों को नहीं देखती, यह आठवी भक्ति भी तुम में हैं। तुम स्वयं नम्र स्वभाव की हो और सबके साथ भी तुम्हारा निष्कपट व्यवहार है, ह्रदय में मेरा तुम्हें भरोसा है और कैसी भी परिस्थिति तुम्हें रहना पड़े तुम उसमें बहती नहीं हो, आनन्द के आने पर आनन्दित नहीं होती और न विषाद के आने पर दुखी होती हो, यह नवी भक्ति भी तुममें हैं। इन नौ प्रकार की भक्तियों में से जो एक भी भक्ति को अपनाता हैं, वह स्त्री,पुरूष, जड़, चेतन कोई भी हो हे भामिनी, मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। फिर तुम में तो सभी प्रकार की भक्ति दृढ़ हैं, अतः तुम्हारे प्रति मेरा अत्यन्त अनुराग होना स्वाभाविक है।

किन्तु, तुम विचार तो करो कि इस प्रकार भक्ति करने से तुम

अपने को मुझसे पृथक ही समझती रहोगी। यह रीति योगियों की है जो भक्ति के माध्यम से मेरा दर्शन मात्र करना चाहते हैं। उनमें से कभी किसी को यदि दर्शन भी हो जाता है तो वह स्थाई नहीं होता। अपनी कल्पना के अनुसार वह इष्ट के चिन्तन में सराबोर हो जाता है, उसकी कल्पित झांकी उसे दीख जाती है। जैसे हम कभी–कभी स्वप्न में देख लेते हैं। इस प्रकार का कल्पित दर्शन सदा देखा जा सके यह सम्भव नहीं। सचमुच मेरे विचार से योगियों की भी, जो अपने को मुझसे पृथक् समझते हैं मेरी भक्ति प्राप्त हो जाना दुर्लभ है। किन्तु मैं समझता हूँ कि तूने मुझसे मिलकर दर्शन का वास्तविक रहस्य समझने का भाव अपने मन में लाया है। अतः मैं अपने दर्शन का रहस्य बतलाता हूँ ध्यान से सुन। मैं जानता हूँ कि मैं इस ज्ञान को लेकर ही उत्पन्न हुआ हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति में तीन भाव होते हैं सेवकभाव, स्वामी भाव और साक्षीभाव। परन्तु इसकी जानकारी जन साध ारण को नहीं होती। अतः वे अहंकार में लीन हुए जीवन व्यतीत करते रहते हैं। मुझे स्पष्ट मालूम है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ। मैं तो सदा ही माया से यानी विचारों से परे रहता हूँ। मेरा स्वामीभाव ही सेवकभाव को कर्म करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार मैंपन जो सेवक है वही स्वामीभाव के आदेशों का पालन करता है। इसकी पुष्टि उस समय होती है जब मैंपन विश्राम के हेतु साक्षीवत् हो जाता है। तब वह स्पष्ट अनुभव करता है कि स्वामी भाव आदेश दे रहा है, सेवकभाव आदेशों का पालन कर रहा है समस्त इन्द्रियाँ तथा शरीर के सभी अवयव माध्यम का काम करते हैं। सेवकभाव स्वामी के लिये उनका उपयोग करता है।

इस प्रकार मेरे तीनों भावों में स्वामीभाव सबसे महत्वपूर्ण हैं, जो कर्म कराता हैं। जब यह कहा जाता है कि 'सबहिं नचावत राम गोसाई' तब राम गोसाँई से अभिप्राय मेरे स्वामीभाव की सत्ता से ही है। इसी सत्ता का नाम श्रीहरि समझ। इसी सत्ता का नाम श्रीहरि हैं और इसी सत्ता का नाम कुण्डलिनी शक्ति है। जब व्यक्ति अत्यन्त सच्चाई से पूर्ण समर्पित भाव से इस सत्ता के दर्शन करना चाहता हैं तो इस सत्ता की क्रियाएँ अनुभव करने लगता हैं। ये क्रियाएँ एक दम स्वतंत्र रूप से होती हैं। साथ ही, उन क्रियाओं से शरीर हल्का हो जाता है। सेवकभाव (मैंपन) को काम करने के

लिये स्फूर्ति आती है और इन क्रियाओं से सेवकभाव (मैंपन) का सदा ही हित होता है। अतः मेरे दर्शन के हेतु जो सच्चाई से मेरे लिये काम करने की भावना से पूर्ण समर्पित भाव मे ओत–प्रोत हो जाता है, उसके कुण्डलिनी का कर्म अनुभव होने लगता है। इस प्रकार के अनुभव को ही कुण्डलिनी का या मेरे स्वामीभाव का दर्शन करना कहते हैं। इसी को कहते हैं कि भगवान् का दर्शन हो गया। इस प्रकार का दर्शन जीवन पर्यन्त होता रहता है, और प्रतिक्षण होता रहता है।

हे शबरी, इस प्रकार के दर्शन के लिये मेरे निमित्त काम करना ही सर्वोपरि है। यही मेरी भक्ति है। मेरे प्रिय भक्त को अपना अस्तित्व पृथक् ही नहीं दीखता वह अपने अन्दर ही अपने तीनों भावों को देखने लगता है। ये भाव बनाने नही पड़ते, वे प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से ही आते हैं, अतः वे सहज स्वभाव कहे जाते हैं। ऐसा भक्त सदैव अपने अस्तित्व को मुझमें ही समाया हुआ अनुभव करता है।

अस्तु तू यही समझ कि जो भी मेरा दर्शन करना चाहता है, वह कुण्डलिनी शक्ति का ही दर्शन करना चाहता है। यदि कोई मुझसे मिलना चाहता है, तो उसे मैं इसी रहस्य को समझा देता हूँ। इस ज्ञान के फलस्वरूप वह मेरा भक्त अपने सहज स्वरूप को जानकर मुझमें ही सदा निवास करने लगता है। "मम दरसन फल परम अनूपा, जीव पाय निज सहज स्वरूपा।"

शबरी रामजी की बात ठीक–ठीक समझ गई। फलतः वह अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हो गई। उसे अपने अन्दर ही कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति होने लगी और ऐसा लगने लगा कि समस्त शरीर में रामजी रम रहे हैं। वह पहले अपने को अधम मानती थी। अब वह अपने को रामजी का ही अविभाजित अंग मन ही मन समझने लगी। रामजी की कृपा से शबरी कृतकृत्य हो गई।

रामचरित मानस के सात काण्ड

संत तुलसीदास जी महाराज के द्वारा रचित रामचरित मानस सात काण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड अपना विशेष महत्व रखता हैं। शरीर की रचना में रीढ़ की अस्थि तथा मस्तिष्क सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। मस्तिष्क से लेकर रीढ़ की पूँछ जिसे 'चचु' कहते हैं, तक का स्थान सबसे

अधिक उपयोगी हैं। इस स्थान को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं– एक है सिर, दूसरी पीठ। सिर के सबसे ऊपर के बीच के भाग को शीर्ष कहते है। चोटी इसी भाग के ऊपर रखी जाती हैं। सिर के नीचे के भाग पर एक गढडा हैं। इस गढडे से लेकर गुदा और इन्द्रिय के मध्य के भाग तक रीढ़ फैली हुई हैं। रीढ़ क भीतर बीचों बीच से एक नाड़ी जाती है, इस नाड़ी को सुशुम्ना कहते हैं। यही गुप्त मार्ग हैं, जिसके माध्यम से समस्त शरीर का यातायात होता रहता हैं। इस गुप्त मार्ग में रीढ़ के ऊपर पाँच ठहरने के महत्वपूर्ण स्थान हैं। ऐसे ही शीर्ष का सबसे ऊपर का स्थान और भृकुटि का मध्य दो और ठहरने के महत्वपूर्ण स्थन हैं। इन सात ठहरने के स्थानों को सात प्रमुख केन्द्र कह सकते हैं। इन केन्द्रों से ही शक्ति समस्त शासन व्यवस्था करती हैं। इन सात केन्द्रों को ही राम के स्वामीभाव के सप्त सोपान कह सकते हैं अथवा श्रीहरि के स्वामीभाव की लीला की क्रीड़ा भूमि कह सकते हैं अथवा यों कहिये की कुण्डलिनी शक्ति के आवागमन के प्रमुख सात मार्ग हैं। पाठक पिछले अध्यायों में पढ़ ही चुके हैं कि राम के स्वामी भाव में अथवा श्रीहरि के स्वामीभाव में या कुण्डलिनी शक्ति के स्वामीभाव में कोई अन्तर नहीं हैं। एक ही शक्ति के तीन प्रमुख नाम हैं, श्रीराम, श्रीहरि, तथा कुण्डलिनी।

अस्तु, सन्त तुलसीदास को भी रामचरित मानस लिखने में प्रेरणा हुई होगी कि रामचरितमानस को सात काण्डों में लिखा जाय। विचारणीय है कि शरीर की रचना पांच तत्वों से हुई हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु और आकाश, रीढ़ के ऊपर जो पांच केन्द्रीय स्थान हैं वे क्रम–क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु और आकाश तत्व से प्रभावित हैं।

पृथ्वी से प्रभावित केन्द्र को मूलाधार कहते हैं। जल से प्रभावित केन्द्र को स्वाधिष्ठान और अग्नि से प्रभावित केन्द्र को मणिपूर कहते हैं। वायु से प्रभावित केन्द्र को अनाहद् तथा आकाश से प्रभावित केन्द्र को विशुद्ध कहते हैं, इसी प्रकार सिर में दो विचार केन्द्र हैं। भृकुटि के मध्य वाले केन्द्र को आज्ञा तथा शीर्ष को सहस्त्रार कहते हैं। आज्ञा केन्द्र से विचार दो प्रकार के व्यक्त होते हैं, जिन्हें स्वामीभाव तथा सेवकभाव कहते हैं। शीर्ष स्थान के केन्द्र पर विचारों की वह स्थिति हैं, जो गुणों से परे कही जाती है, जिसे साक्षीभाव की स्थिति कह दिया करते हैं। प्राणी की जीव लीला का प्रारम्भ पृथ्वी से सम्बन्धित मूलाधार प्रथम केन्द्र से होती है और उसका अन्त सप्तम केन्द्र सहस्त्रवार पर होता हैं।

इस प्रकार, प्रत्येक मानव चरित के चित्रण के लिये सप्त केन्द्र प्रमुख माने जाते हैं। उत्पत्ति, पालन और संहार के काम करने वाली शक्ति के भी ये सात केन्द्रीय स्थान होते हैं। यह शक्ति अपने आधार तत्व के आधीन काम करती है। रामचरित मानस में आधार तत्व का नाम श्री राम जी हैं, जिन्हें जगदीश माना जाता है और उनके आधीन काम करने वाली शक्ति को जानकी जी कहते है। इन्हें ही माया कहा जाता है। वेदों की एक शाखा तन्त्र है, उसमें इस शक्ति को कुण्डलिनी कहा हैं। अतः रामचरितमानस की सीता जी को कुण्डलिनी शक्ति की संज्ञा दी जा सकती है, जो उद्भव, स्थिति और प्रलय की उत्तरदायी है। चूंकि प्रमुख सात केन्द्रों में होकर ही प्रत्येक मानव का जीवन बीतता है और यही नियम प्रत्येक अवतारी महानुभाव पर भी लागू होता है, अतः संत तुलसीदास जी ने रामचरित के रचने में सात काण्ड ही लिखना उचित समझा है।

बालकाण्डः—

संत तुलसीदास का रामचरित मानस कुण्डलिनी के प्रथम केन्द्र से प्रारम्भ होता है। इसका नाम बालकाण्ड रखा जाना समुचित है। अतएव सर्वप्रथम मंगलाचरण में वे सीताजी को प्रणाम करते हैं और उसको स्पष्ट रूप से उत्पत्ति,पालन, और संहार कर्तु कुण्डलिनी ही गुप्त रूप से समझ कर उन्होंने उन्हें प्रणाम किया हैं। मंगलाचरण में वे लिखते हैं कि—

उदम्‌वस्थिति संहार कारिणी क्लेश हारिणीम्।।

सर्वश्रेयस्करी सीतां नतोऽहं रामबल्लभाम्।।

प्रथम केन्द्र मूलाधार पृथ्वी से प्रभावित है अतः प्रथम काण्ड बालकाण्ड में ही तुलसीदास जी राम का जन्म कराते हैं, और साथ ही साथ कुण्डलिनी के रूप में शक्ति का जन्म कराते हैं। साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि वे ही रामजी अपने अन्दर व्याप्त हैं। उनकी सत्ता से शक्ति (कुण्डलिनी) उत्पत्ति, पालन, और संहार की क्रिया कर रही है। इस रहस्य का अनुभव उन्हीं को होगा जिन्हे राम ही चाहिये। और कुछ नहीं। वर देने वाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी कुछ नहीं चाहिये। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये तुलसीदास जी मनु और शतरूपा का सम्वाद प्रस्तुत करते हैं। मनु, शतरूपा का लक्ष्य केवल सर्वोपरि सत्ता को प्राप्त करना हैं, वे अपने मन में ही निश्चय करते हैं कि–

नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरूपाधि अनूपा।।

शंभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंश तें नाना।।

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।।

जो यह वचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहिं अभिलाषा।।

मनु तथा शतरूपा में कितनी दृढ़ता है, जानने के लिये विधि, हरि और हर तीनों आते हैं और उन्हें बार–बार वरदान मांगने को ललचाते हैं, पर वे सिवाय रामजी के और कुछ नहीं चाहते। फलतः स्वयं राम ही मनु, शतरूपा में विवेक उत्पन्न करते हैं कि तुम्हारे पुत्र रूप में ऐसा सात्विकी वृत्ति वाला महापुरूष जन्म लेगा जिसे जन्म से मेरी सर्वत्र व्यापकता का ज्ञान होगा। साथ ही, उसे कुण्डलिनी शक्ति की अनुभूति भी जन्म से ही होगी। और उसे स्वामीभाव के आदेश समझने की क्षमता होगी तथा सेवकभाव से काम करना आता होगा, अतः मनु,शतरूपा को विश्वास हो गया कि प्रभु उनसे कह रहे हैं कि–

इच्छामय नरवेष सँवारें। होइ हऊँ प्रगट निकेत तुम्हारें।।

आदि शक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिह मोरि यह

माया।।

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य–सत्य पन सत्य हमारा।।

ऐसा लगता है कि मूलाधार केन्द्र पृथ्वी तत्व से प्रभावित है ओर कुण्डलिनी शक्ति से सुशोभित है इसकी पुष्टि हेतु ही तुलसीदासजी के द्वारा पृथ्वी से करूण पुकार कराई गई है और श्रीहरि यानी कुंडलिनी का उसे आश्वासन दिलाकर स्वस्थ बनाया गया है। अतः रीढ अस्थि का प्रथम केन्द्र मूला–

धार जो कुण्डलिनी शक्ति के चरित का पहला सोपान है उसे रामचरितमानस का बालकाण्ड कहा जावे तो सर्वथा उचित है।

अयोध्याकाण्डः–

रामचरित मानस का द्वितीय काण्ड अयोध्या काण्ड है। अयोध्या को ही कुण्डलिनी शक्ति का दूसरा केन्द्र स्वाधिष्ठाम कहा जा सकता है। यह केन्द्र ही रीढ के ऊपर सुशुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत प्रथम केन्द्र मूलाधार के कुछ ऊपर स्थित है। जैसे मूलाधार केन्द्र पृथ्वी तत्व से प्रभावित है ऐसे ही स्वाधिष्ठान केन्द्र जल तत्व से प्रभावित है मूलाधार केन्द्र रामजी अथवा कुंडलिनी शक्ति के जन्म स्थान के कारण महत्वपूर्ण हैं, किन्तु मानव के कर्मक्षेत्र का स्थान वास्तव में स्वाधिष्ठान है, जहाँ से ही कुंडलिनी शक्ति जीवन पर्यन्त अपना व्यापार करती रहती हैं। यह केन्द्र जल से प्रभावित है। जल ही जीवन है, ऐसा कहा जाता है। स्वाधिष्ठान केन्द्र की बातें हम अयोध याकाण्ड में पाते हैं।

अयोध्या ही रामचरितमानस के नायक रामजी की राजधानी है। उनकी सम्पूर्ण शासन व्यवस्था मूलतः अयोध्या से ही सम्बन्ध रखती है–

राजाराम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि वर बानी।।

जल तत्व शीतलता का प्रतीक है, ठंडे मस्तिष्क से किया गया काम सदा उत्तम होता है। शासन व्यवस्था में उतार–चढ़ाव आना स्वाभाविक है। अस्तु, वही शासक श्रेष्ठ समझा जाता है जो उतार–चढाव की स्थिति में न बहे। अतः तुलसीदास जी अयोध्याकाण्ड को प्रारम्भ करने से पूर्व अपने

नायक के स्वभाव का वर्णन मंगलाचरण में ही कर देते हैं।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले बनवास दुःखतः।

मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मन्जुलमड.ग्लप्रदा।।

श्रीराम जी के मुख कमल की शोभा जो राज्याभिषेक की बात सुनकर न तो प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न बनवास के दुःख से मलिन ही हुई, वह मुख कमल की छवि मेरे लिये सदा सुन्दर मंगलों की देने वाली हो। जल तत्व की महत्ता रामजी के राज्याभिषेक में ही दिखाई गई हैं। राजा दशरथ मंत्रीगण से कहते हैं कि मुनिराज वशिष्ठ जी की जो–जो आज्ञा हो आप लोग सब वही तुरन्त करें। मुनिराज ने सबसे पहले यही कहा कि सम्पूर्ण श्रेष्ठ तीर्थों का जल ले आओ।

हरषि मुनीस कहेउ मृदुबानी, आनहु सकल सुतीरथ पानी।।

राम को राज तिलक की जगह बनवास दिया जाता है, पर वे उतार–चढ़ाव में नहीं बहते यानी दुःख–सुख से प्रभावित नहीं होते। जल सदृश शीतलता रामजी के मस्तिष्क में बनी रहती है। मस्तिष्क का संतुलन में रहना स्वाधिष्ठान केन्द्र का ही प्रमुख लक्षण है। अतः स्वाधिष्ठान द्वितीय केन्द्र के अनुरूप अयोध्याकाण्ड को द्वितीय काण्ड कहना न्यायसंगत हैं।

अरण्य काण्डः–

रामचरित मानस का तृतीय काण्ड अरण्यकाण्ड है। रीढ के ऊपर सुशुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत तीसरा केन्द्र मणिपूर कहा जाता है। यह केन्द्र अग्नि तत्व से प्रभावित है। अग्नि तपना, तपस्या करना, यज्ञ करना, पापादि को भस्म करने के कठोर ब्रतों का आचरण, साधुवृत्ति को अपनाना, परःदुख से दुःखी होना, स्वयं कष्ट पाना और सज्जनों को सुख पहुँचाना, दुखदायी लोगों का संहार करना आदि इस तत्व के प्रमुख कार्य हैं। चूंकि मणिपूर केन्द्र में कुंडलिनी शक्ति अग्नि से प्रभावित सभी तेजस्वी कार्य सम्पादित करती है, अतएव तुलसीदास जी भी अरण्य काण्ड के प्रारंभ में ही मंगलाचरण में श्रीराम के उन गुणों को ही व्यक्त करते हैं जो मणिपूर केन्द्र के अनुकूल

हों, जैसे तेज, वैराग्य, तप, दुष्ट दलन वृत्ति, भक्तवत्सलता, त्याग, शौर्य, पराक्रम आदि। अतः वे कहते हैं–

सान्द्रानन्द पयोद सौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं।
पाणौ वाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।।
राजीवायतलोचनं धृत जटाजूटेन संशोभितं।
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिराम भजे।।

जिनके शरीर का वर्ण सजल बादलों के समान श्याम है अर्थात् जो सूखी खेती को हरी बनाने का स्त्रोत है यानी दीन दुखियों को सुखी बनाने का हेतु एवं आनन्द धन है, जो सुन्दर पीत वस्त्र धारण किये है यानी जो त्याग और तप के प्रतीक हैं, जिनके हाथों में वाण और धनुष है यानी जिनके हाथों में दुष्ट दमन की सामर्थ्य है, जिनकी कमर उत्तम तरकस के भार से सुशोभित है, यानी जिनकी शक्ति का चाहे जितना उपयोग किया जावे कभी क्षीण नहीं होती, जिनके कमल के समान विशाल नेत्र हैं यानी जिनकी दृष्टिमात्र से सब ओर शांति छाई रहती है, और मस्तक पर जटाजूट धारण किये हैं यानी जिनकी बुद्धि वैराग्य की ओर ही प्रवृत्त रहती है, उन अत्यन्त शोभायमान् श्री सीताजी और लक्ष्मणजी सहित यानी लोकहित के विचारों और उन्हें पूर्ण करने की शक्ति सहित, आनन्द देने वाले श्रीराम जी को मार्ग में चलते हुए मैं भजता हूँ यानी सेवकभाव से काम करने में प्रवृत्त,स्वामीभाव से आदेश देने में समाधान और साक्षीभाव से सदा संतुलित मस्तिष्क में रहते हुए कार्यरत श्री रामजी के लिये कर्तव्य पालन हेतु मैं सदैव स्मरण करता हूँ।

आगे भी जो प्रसंग प्रस्तुत किये गये हैं वे अग्नि तत्व के गुणों से ही प्रभावित हैं जैसे–जयंत की कुटिलता के लिये उसे दण्ड देना, अत्रि, शरभंग, सुतीक्षण, अगस्त आदि ऋषियों को सान्त्वना देना, परोपकारी जटायू को सद्गति देना, राक्षस वध की प्रतिज्ञा करना, सीता का अग्नि प्रवेश, खरदूषण–मारीच आदि का वध तथा शबरी पर कृपा आदि। अस्तु, तृतीय अरण्यकाण्ड को कुण्डलिनी अथवा श्रीराम जी के स्वामीभाव को अग्नितत्व से प्रभावित मणिपुर तृतीय केन्द्र में विचरण करने की क्रिया कहा

जावे तो असंगत नहीं।

किष्किन्धाकाण्ड:–

रामचरितमानस का चौथा काण्ड है किष्किन्धाकाण्ड। रीढ के ऊपर सुशुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत चौथा केन्द्र अनाहद् कहा जाता है। यह केन्द्र वायुतत्व से प्रभावित है। इस कारण इस केन्द्र में प्रायः श्वास–प्रश्वास अधिक गतिशील रहता है। विचारों में परिवर्तन होता है, परन्तु होता है मार्ग को प्रशस्त बनाने के लिये। प्रायः कार्य की पूर्ति हेतु भक्त मित्रों की आवश्यकता होती हैं। अतः इस काण्ड में श्री पवनसुत हनुमानजी, सुग्रीव, आदि का मिलन, हस्तगत कार्य में यथेष्ट सहायता मिलना, सीताजी को ढूंढ़ निकालने का सफल प्रयास, दुष्ट दलन तथा विघ्नों को दूर करने का ही उल्लेख है। इस काण्ड के अनुकूल ही तुलसीदास जी भक्त शिरोमणि भगवान् शंकर का आदर्श प्रस्तुत करते हुए उन समस्त भक्तों की सराहना करते हैं जो भक्ति के मार्ग में उत्तरोत्तर बढ़ते रहने के हेतु श्रीरामजी को निरन्तर भजते रहते हैं अतः वे मंगलाचरण में यही भाव व्यक्त कर रहे हैं–

ब्रह्माम्भोधि समुद्भवं कलिमल प्रध्वंसनं चाव्ययं
श्री मच्छम्भुमुखेन्दु सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकी जीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्री रामनामामृतम्।।

श्रीराम नाम का स्मरण उस अमृत के तुल्य ही है जो वेद रूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ, जो कलियुग के मान को सर्वथा नष्ट कर देने वाला है, जो अविनाशी बनाता है, जो भगवान् शंकरजी के सुन्दर एवं श्रेष्ठ चन्द्रमुख में सदा शोभायमान रहता है, जो जन्म–मरण रूपी रोग के लिये औषधि हैं, जो सबको सुख देने वाला है तथा जो श्री जानकीजी के जीवन स्वरूप ही है, ऐसे अमृत को जो पुण्यात्मापुरूष निरन्तर पान करते रहते हैं अर्थात् रामजी को स्मरण करते हुए उनके लिये सब काम करते रहते हैं वे धन्य हैं।

वस्तुतः अनाहद् केन्द्र वायु से प्रभावित है। यह वायु, अज्ञान को

स्थिर नहीं रहने देती, उसे हटाकर भक्त की वृत्ति को ऊंर्ध्वगामिनी बना देती है। इसी तथ्य को पुष्ट करने हेतु तुलसीदास, सुग्रीव और तारा के प्रसंग को प्रस्तुत करते हैं। सुग्रीव पावक को साक्षी बना कर भगवान् का मित्र हो अवश्य जाता हैं, किन्तु अभी उसे अज्ञान ही है। वह रामजी की सार्मथ्य को नहीं जानता है। अपनी दुःख भरी कथा कहते–कहते वाली को बहुत बलवान बताता है। रामजी की शक्ति देखने को उसने उन्हें दुंदुभी अस्थि व ताल वृक्ष दिखाये। सुग्रीव ने मन में सोचा था कि यदि रामजी इन्हें हटा देंगे तो निश्चय हो जावेगा कि उनका बल अमित है। भगवान् ने उन्हें सहज ही ढहा दिये। अब सुग्रीव को विश्वास हो गया कि निश्चय ही ये बालि का बध कर देंगे। अब उन्होंने अत्यन्त सच्चाई से प्रेमपूर्वक पूर्ण समर्पित भाव से रामजी को भगवान् समझा और बार–बार उन्हें सिर नवाया। फलतः उन्हें शक्ति की अनुभूति हो गई। जब ज्ञान उत्पन्न हो गया तो सुग्रीव कहते हैं कि–

बालि परम हित जासु प्रसादा, मिलेहु राम तुम्ह समन विषादा।

अब प्रभु कृपा करहु एहि भांति, सब तजि भजनु करौं दिनराती।।

तब भगवान् हँस पड़े और बोले कि हे मित्र, तुम जो कुछ कहते हो वह सभी सत्य है, किन्तु मेरा भक्त मेरे आदेश का पालन करता है। अतः मैं कहता हूँ, वही करो। उठो वाली से युद्ध करो। मेरा वचन मिथ्या नहीं होता, बाली मारा जायेगा और तुम्हें राज्य मिलेगा। रामजी के वचनों से सुग्रीव का अज्ञान दूर हो गया और वह रामजी के आदेशानुसार काम करने लगा। इस केन्द्र का प्रभाव ही है कि यहाँ अज्ञान दूर हो जाता हैं।

ऐसे ही बाली के मारे जाने पर तारा बहुत दुःखी हो जाती है। अज्ञान से विलख–विलख कर रोती है। उसके बाल बिखर गये हैं। वह अपने शरीर को भी सम्हाल नहीं पाती। रामजी ने उसे समझाया कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तत्वों का यह शरीर बना है। इस शरीर का बाली उपयोग करता था, किन्तु वह स्वयं शरीर से पृथक् था। अतः स्पष्ट है कि जीव पृथक् है और वह अविनाशी है। रामजी के उपदेश से तारा का अज्ञान दूर हो गया और तारा को विवेक हो गया। वह बार–बार प्रभु के चरणों में

गिरी। फलतः वह प्रभु की अनन्य भक्त बन गई। सत्य ही अनाहद् केन्द्र वायु से प्रभावित है। यह वायु अज्ञान को उड़ा देती है और ज्ञान की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को जाग्रत कर देती है, जिससे व्यक्ति रामजी का भक्त सहज ही हो जाता है अर्थात् उनके लिये ही सब काम करने लगता है। अतः किष्किन्धाकाण्ड के माध्यम से तुलसीदासजी ने कुंडलिनी शक्ति के अनाहद् केन्द्र का ही परिचय दिया है कहना असंगत नहीं।

सुन्दरकाण्डः—

रामचरितमानस का पाँचवा काण्ड है सुन्दरकाण्ड। रीढ के सबसे ऊपर का केन्द्र जो सुशुम्ना के अन्तर्गत है, उसे विशुद्ध केन्द्र कहा जाता है। ठोड़ी के नीचे जो गड्ढा हैं, वहाँ ही से प्रमुख रूप से इस केन्द्र की क्रियाओं का विस्तार होता रहता हैं। यह केन्द्र आकाशतत्व से प्रभावित है, इस कारण यह मानव के सबसे ऊपरी भाग सिर से सम्बन्ध रखता है। निर्मित पदार्थ का आधार निर्माण करने वाली शक्ति होती है, अतः इस केन्द्र से निकली विचारधारा का प्रेम,शक्ति के प्रति सहज ही होता है। इस शक्ति के लिये ही सब कुछ करना उसके सेवक की विशेषता है। अतः इस केन्द्र में स्वामी की भक्ति में लीन रहना ही साधक की सर्वोपरि इच्छा रहती है, उसकी निज की कोई इच्छा नहीं होती। संत तुलसीदास जी ने भी सुन्दरकाण्ड को भक्ति से ओतप्रोत रचा हैं। इस काण्ड में उन्होंने सेवक को प्रभु का विशुद्ध भक्त बनाने का प्रयास किया है। वे मंगलाचरण में इसी भाव को व्यक्त कर रहे हैं—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्य बदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्मरां मे
कामादि दोष रहितं कुरु मानसं च।।

हे रघुनाथजी, मैं सत्य कहता हूँ कि मेरे हृदय में दूसरी कोई इच्छा नहीं हैं। हे रघुकुल में श्रेष्ठ रामजी, मैं सत्य कह रहा हूँ, आप सबके अन्तर्यामी हैं, आप स्वयं ही जानते हैं। हे रामजी, आप अपनी पूर्ण भक्ति

प्रदान कीजिये और मेरे मन को काम आदि दोषों से रहित करने की कृपा कीजिये। विशुद्ध भक्ति होने की विचारधारा तुलसीदासजी के मन में आते ही, सम्भव है, उनको आदर्श विशुद्ध भक्त का अनुकरण करने की इच्छा प्रबल हुई होगी। फलतः उनके सामने तत्काल ही श्री हनुमानजी की सुन्दर छबि आने लगी होगी, अतः वे मंगलाचरण में ही उनकी वन्दना करने लगते हैं कि–

अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकल गुण निधानं वानराणामधीशं
रघुपति प्रिय भक्तं बातजातं नमामि।।

अतुलित बल के धाम, सोने के पर्वत के समान कान्तिमान् शरीर वाले दैत्यरूपी वन को जलाकर भस्म करने के लिये अग्निरूप, ज्ञानियों में अगण्य, सम्पूर्ण गुणों के निधान, वानरों के स्वामी, श्रीरामजी के प्रिय भक्त यानी रामजी के लिये ही निरन्तर काम करने वाले पवनपुत्र श्री हनुमानजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

विचारणीय है कि किष्किन्धाकाण्ड में ही हनुमान जी ब्राह्मण का रूप रखकर रामजी से मिलने जाते हैं और पूछते हैं कि हे वीर, सांवले और गौरे शरीर वाले, आप कौन हैं? अनाहद् केन्द्र ही में वायु साधक के अज्ञान को हटा देती है और ज्ञानवान् बना देती है। हनुमानजी बनावटी वेष से मिलते हैं, वे अभी रामजी को पहचानते भी नहीं हैं किन्तु रामजी ने उनके साथ निश्छल व्यवहार किया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हम कौशलराज, दशरथजी के पुत्र हैं। हमारे नाम राम लक्ष्मण है। पिताजी की आज्ञा से यहाँ आए हैं, यहाँ मेरी पत्नि जानकी का हरण हो गया है। हे ब्राह्मण, हम उसे ही खोजते फिरते हैं। इस प्रकार उनके सत्याचरण ने हनुमानजी के मस्तिष्क में श्रद्धा की छाप डाल दी। उन्होंने पहचान लिया कि ये तो मेरे प्रभु हैं। इन्हीं से तो मैं मिलना चाहता था। अतः हनुमानजी ने रामजी के चरण पकड़ लिये और वे पृथ्वी पर गिर पड़े। और कहने लगे कि हे स्वामी, मैं तो आपकी माया के वश भूला हुआ फिरता हूँ, इसी से मैंने आपको नहीं

पहिचाना। हे नाथ, जीव आपकी माया से मोहित है, वह आपकी ही कृपा से विस्तार पा सकता है। इतना कहकर उन्होंने अपना असली रूप प्रगट कर दिया। तब रामजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। और कहा कि हे कपि,सुनो, मन में ग्लानि मत मानना। मेरे लिये निःसन्देह सेवक प्रिय है, क्योंकि मुझे छोड़कर उसका कोई दूसरा सहारा नहीं होता। स्पष्ट है कि वायु से प्रभावित अनाहद् केन्द्र में हनुमानजी माया से मुक्त होकर विशुद्ध केन्द्र की ओर अग्रसर हो गये। अतः तुलसीदासजी रघुपति प्रिय भक्त वातजातं नाम से उन्हें प्रणाम करते हैं।

इस काण्ड में विशुद्ध भक्त श्री हनुमानजी ने पूर्ण समर्पित भाव से सेवक के रूप में जिन–जिन कार्यों को किया है, उन्हीं का उल्लेख है, जैसे हनुमानजी का लंका को प्रस्थान, हनुमान जी का विभीषण से वार्तालाप तथा उसे भक्त बनकर काम करने की प्रेरणा देना। हनुमानजी का अशोक वाटिका में पहुँचकर सीताजी से वार्तालाप तथा अशोक वाटिका का विध्वंश करना, अक्षयकुमार का वध, मेघनाथ द्वारा हनुमानजी का नागपाश से बंधना और इस निमित्त लंका का दहन करना, विभीषण का श्रीरामजी की शरण में जाने के लिये प्रस्थान आदि। लंका से लौटकर आने पर हनुमानजी को यह ज्ञान भली प्रकार हो गया कि रामजी के लिये अटूट श्रृद्धा से काम करना ही उनकी भक्ति है। अतः वे रामजी से विनय करते हैं कि–

नाथ भगति अति सुखदायनी, देउ कृपा करि अनपायनी।।

सुनि प्रभु परम सरल कपि वानी, एवमस्तु तब कहेउ भवानी।।

अन्त में विभीषण के माध्यम से श्री रामजी ने भक्ति का रहस्य ही उन्हें समझाया कि–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

अरस्तु, ऐसा लगता है कि सुन्दरकाण्ड के माध्यम से भक्ति को प्रधानता देने के लिये ही इस काण्ड को उन्होंने सुन्दर कहा है। सत्य ही, विशुद्ध केन्द्र भक्त को यह क्षमता प्रदान करता है, जिससे वह शीर्ष की ओर अग्रसर होकर भक्ति में ही निरन्तर लीन रहे यानी भक्त अपने समस्त काम रामजी के लिये करते हुए ही जीवन यापन करे। अतः सुन्दरकाण्ड के माध्

यम से तुलसीदासजी द्वारा कुंडलिनी के पाँचवे केन्द्र विशुद्ध केन्द्र की ही विवेचना की गई है, यह कहना असंगत नहीं है।

लंकाकाण्डः—

रामचरितमानस का छठा काण्ड लंका काण्ड हैं। कुंडलिनी शक्ति का भी छठा केन्द्र 'आज्ञा' कहा जाता है। यह केन्द्र विशुद्ध से ऊपर मस्तक पर भृकुटि के मध्य में स्थित है। निर्माण करने वाली सत्ता के पूर्ण समर्पित होकर सेवक की तरह से जो भक्त निरन्तर उसी के लिये काम करता है, जिसका अन्य दूसरा कोई आधार नहीं है, उसे सहज ही विवेक आने लगता है कि सृष्टि रचना में दो ही प्रमुख वृत्तियाँ हैं— दैवी और आसुरी। इनमें सदा संघर्ष होता रहता है। पूर्ण समर्पित भक्त इन दोनों में ही नहीं उलझता। सब कुछ करते हुए ही अपने को काम का साक्षीमात्र समझता है। इस प्रकार साधक दोनों वृत्तियों के कामों को करता रहता है, पर वास्तव में, वह कुछ भी नहीं करता। सन्त तुलसीदासजी आज्ञा केन्द्र के अनुसार लंका काण्ड में राम—रावण युद्ध के माध्यम से विशुद्ध भक्त का आचरण व्यक्त करवाना चाहते हैं। अतः मंगलाचरण में वे रामजी को प्रणाम करके उनके सर्वश्रेष्ठ भक्त श्री शंकरजी को ही मार्गदर्शन हेतु स्मरण करते हैं। वे कहते हैं कि—

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।
खलानां दण्ड कृद्योऽसौ शं तनोतु मे।।

कैवल्य पद यानी गुणातीत स्थिति का पद प्राप्त हो जाना महान कठिन है। किन्तु, वह कठिन पद भी जिनके आदर्श जीवन के अनुकरण से प्राप्त हो जाता है और जो खलों को यानी तम में डूबे हुए लोगों को ताड़ना देकर सन्मार्ग सुझाता है, वे ही रामजी के परम भक्त शंकरजी मुझे भी कल्याण कर मार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ाते रहें।

विचारणीय है कि कुंडलिनी शक्ति आज्ञा केन्द्र में साधक को विवेक की ओर अग्रसर करती है। मैपन से तो साधक काम करता दीखता है, पर मन में वह स्पष्ट समझता है कि प्रभु सत्ता ही उससे काम करवा रही है और समस्त कार्य सत्ता के लिये ही हो रहा है। विभीषण प्रभु की शरण

में तो आ गया है, पर उसे यह विवेक पूर्ण रूप से नहीं आया कि मैंपन तो पूर्ण समर्पित शरणागत सेवक है। अतः जब विभीषण रावण को रथ में बैठे हुए और युद्ध की सामग्री से पूर्ण सुसज्जित हुए देखता है और रामजी को साधनहीन देखता है तो उसका धैर्य टूट जाता है और रामजी की युद्ध में विजय में उसे सन्देह होने लगता है। इस स्थिति में वह स्नेहपूर्वक नम्रता से रामजी से जो विनय करता हैं उसे तुलसीदासजी इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि–

रावनु रथी विरथ रघुवीरा, देखि विभीषण भयऊ अधीरा।।
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा, बंदि चरन कह सहित सनेहा।।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना, केहि विधि जितव वीर बलवाना।।

विभीषण के मैंपन के ज्ञान को अज्ञान दबा रहा है। आज्ञा केन्द्र पर होने से अब अज्ञान को दूर करते हुए रामजी समझाते हैं कि– हे सखे, सुनो, जिससे जय होती है वह रथ दूसरा ही होता है।

सुनहु सुखा कह कृपानिधाना, जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम परहित घोरे, क्षमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना, विरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा, वर विग्यान कठिन कोदंडा।।
अमल अचल मन त्रोण समाना, समजम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद विप्रा गुरू पूजा, एहिं सम विजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें, जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर।।

विवेकी पुरूष का अविवेकी रूपी संसार जो आसुरी और दैवी शक्ति से युक्त है, वही असाधारण शत्रु है, जिसको आधीन कर लेना अत्यन्त ही कठिन है। भाव यह है कि संसार कोई आदमी कानाम नहीं है, जो जीता

जावे। वास्तव में, संसार शब्द से तात्पर्य संसार के प्राणियों से है। प्राणियों से अभिप्राय यहाँ मानवों से है। प्रायः प्रत्येक मानव की मनोवृत्ति अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से बड़ी दृढ़ता से जकड़ी हुई है। मानव अनुकूल स्थिति ही सदैव बनी रहे ऐसा चाहता हैं और प्रतिकूल न आवे। उसे जी जान से हटाना चाहता है। इस संघर्ष में जीवन भर लगा रहता है, किन्तु इनसे नहीं उबरता। अतः हे धीर बुद्धि वाले मित्र विभीषण, इस संसार को वही विवेकी पुरूष जीत सकता हैं, जिसका रथ अत्यन्त दृढ़ हो और रथी की सज्जा भी दृढ़ हो। यहाँ विवेकी की वह विचारधारा जिससे वह जीवनमुक्त स्थिति में रहते हुए जगत का व्यापार करता हैं, उसका ही उल्लेख दृढ़ रथ तथा रथी की सज्जा का वर्णन करके किया गया है। जो इस प्रकार है कि–

सौरज धीरज तेहि रथ चाका–

यह सर्व विदित हैं कि रथ गतिहीन पहियों से होता है। ऐसे ही विवेकी पुरूष की विचार–धारा गतिशील होती है शौर्य और धैर्य से यानी विवेकी पुरूष जानता है कि व्यक्ति स्वयं नहीं काम करता। रामजी की सक्ति उससे कर्म कराती है। जो कुछ विचार उठ रहे हैं और उनसे जो कुछ आचरण हो रहा है, उसका वह केवल साक्षीमात्र है। इस विचारधारा से वह न तो अनुकूल स्थिति में उलझता और न प्रतिकूल में वह काम भी डट कर करता है यानी वह परिश्रमी होता है और उसका जी भी नहीं ऊबता यानी उसमें धैर्य होता है।

सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका–

जैसे रथ के चलने पर उसमें लगी हुई ध्वजा, पताका, जो दृढ़ता से लगी रहती हैं, रथ की गति कितनी भी तेज हो, वे उखड़ती नहीं हैं, वैसे ही विवेकी पुरूष को कितनी भी बाधाएँ क्यों न आवें वह काम में संलग्न रहेगा, उसकी विचारधारा पलटती नहीं है। उसे विश्वास होता है कि प्रकृति ही सब कुछ करती कराती है यह बिल्कुल सत्य है। साथ ही कर्म के संपादन होते समय भी विवेकी की विचारधारा परिवर्तित नहीं होती।

बल विवेक दम परहित घोरे–

रामजी कहते हैं कि जैसे रथ में चार घोड़े लगते हैं वैसे ही विवेकी पुरूष को जीवनयापन में बल, विवेक, दम,परहित रूपी चार घोड़ों को प्रयोग में लाना होता है। जैसे रथ को अभीष्ट स्थान तक ले जाने में मार्ग में कई प्रकार के मोड़ आदि आते हैं वैसे ही विवेकी के जीवनयापन में कभी बल का प्रयोग करना पड़ता है, तो कभी समझबूझ से काम चलाना होता है। कभी रूककर स्थिति सम्हालनी होती है तो कभी दूसरों के लिये काम करके करते समय सदा भान होता रहता है कि शक्ति के लिये ही काम हो रहा है और शक्ति ही करवा रही है।

छमा कृपा समता रजु जोरे–

जैसे रथ के चार घोड़ों मे से दो–दो घोड़ों की रास जुड़ी होती हैं और रथी रास को खींचते समय यह ध्यान रखता है। कि समता बनी रहे, वैसे ही विवेकी पुरूष बल आदि के प्रयोग में क्षमता बनाये रखता है यानी बल आदि प्रयोग करते समय क्षमाभाव रखता है और दया भी दिखाता है। ऐसे ही रूककर काम करते समय दूसरों का हित भी ध्यान मे रखकर समता बनाये रखता है।

ईस भजनु सारथी सुजाना–

जैसे रथ का चतुर चालक ही रथ को भली प्रकार से चलाता है वैसे ही विवेकी पुरूष की बुद्धि सारथी है जो ईश का भजन करने वाली है यानी प्रभु के लिये कर्म करने वाली है जिससे वह चतुराई से चालक का काम करती है। फलतः कर्म करने में ठीक ठीक प्रगति होती है।

बिरति कर्म संतोष कृपाना–

विवेकी पुरूष का वैराग्य यानी अनाशक्ति ही उसकी रक्षा करने वाली ढाल है। प्रभु का काम हो रहा है, यह ज्ञान तलवार के सदृश काम करने में उपयोगी सिद्ध होता है।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा, वर बिग्यान कठिन को दंडा।।

अमल अचल मन त्रोन समाना, समजम नियम सिलीमुख नाना।।

कवच अभेद विप्र गुरू पूजा, एहि सम विजय उपाय न दूजा–

जैसे योद्धा को युद्ध में फरसा, प्रचंड शक्ति, कठोर, धनुष, तनकर बाण अनेक प्रकार के अभेद कवच उपयोगी सिद्ध होते हैं, वैसे ही कर्म क्षेत्र में काम करते समय स्वामी के काम के हेतु दानवृत्ति, बुद्धि का सदुपयोग, श्रेष्ठ अनुभव, निर्मल स्थिर मन, संयम व नियम से व्यतीत किया हुआ जीवन का ज्ञान, ब्रह्म को प्राप्त हुए सज्जनों तथा गुरूजनों के श्रवण, मनन किए हुए उपदेश जीवन संग्राम में विवेकी पुरूष की जीत करा देते हैं, इससे बढ़कर जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं हैं।

इसी काण्ड में यह भी स्पष्ट किया है कि आज्ञा केन्द्र के प्रभावानुसार बुद्धि संतुलित रहती है, चाहे साधक को रज का कार्य करना पड़े अथवा तम का। भक्त रामजी के लिये ही सब कुछ करता है, उसे अच्छे–बुरे से मतलब नहीं। जैसे भक्त रावण ऊपर से तो राक्षस का अभिनय करता है, पर वह मन से रामजी की ही आज्ञा का पालन करता है। अन्तर्यामी रामजी मन के भाव अच्छी तरह से जानते हैं। जब रावण युद्ध में मारा जाता है तब राक्षस के नाते उसकी दुर्गति होना चाहिये, परन्तु उसके शरीर से दिव्य तेज निकलकर रामजी के आनन में समा गया। सही भक्त की सच्ची पहिचान है–

तासु तेज समान प्रभु आनन, हरषे देखि संभु चतुरानन।।

इसी प्रकार राक्षसगण से भी राक्षसों का ही अभिनय कराया गया है। युद्ध के अन्त में रामजी के आदेश से इन्द्र द्वारा अमृत की दोनों दलों के ऊपर वर्षा की गई। मृत रीछ, वानर जीवित हो गये, किन्तु राक्षस जीवित नहीं हुए–

सुधा बरषि कपि भालु जिआए, हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए।।
सुधा वृष्टि भैदुहुँ दल ऊपर, जिये भालु कपि नहिं रजनीचर।।

जब दोनों दलों पर अमृत बरसाया गया तो रीछ, बानर तो जी गये पर राक्षस क्यों नहीं जीए? इस पर तुलसीदासजी कहते हैं कि–

रामाकार भए तिनके मन, मुक्त भए छूटे भव–बन्धन।।

वस्तुतः भक्त की पहिचान अन्तर्यामी प्रभु को ही रहती है ऊपर से चाहे जैसा भक्त से अभिनय क्यों न कराया जाय, ऊपर के आचरण का महत्व नहीं। अस्तु, पाठक भली प्रकार समझ सकते हैं कि कुंडलिनी शक्ति के आज्ञा केन्द्र के प्रभाव से भक्त रामजी के लिये कर्म करता हुआ सहस्त्रार की ओर अग्रसर होने लगता है। ऐसे ही लंकाकाण्ड लिखने के बाद सहस्त्रार के प्रभाव से प्रभावित होने के लिये तुलसीदासजी ने भी उत्तरकाण्ड की रचना की। अतः स्पष्ट है कि आज्ञा केन्द्र के प्रभाव का ही विस्तृत वर्णन लंकाकाण्ड में रूपकों के माध्यम से ही किया गया है, कहना उचित है।

उत्तरकाण्ड–

रामचरितमानस का सातवाँ काण्ड उत्तरकाण्ड है। कुंडलिनी शक्ति का भी अंतिम केन्द्र सातवाँ सहस्त्रार है। यह केन्द्र सिर के सबसे ऊपरी भाग के मध्य में कहा जाता है। आज्ञा केन्द्र से क्षमता प्राप्त कर साध ाक की विचारतरंगें सहस्त्रार से प्रभावित होकर समाधिस्थ होने लगती है। साधक अपने को लक्ष्य में स्थित हुआ अनुभव करता हैं और समस्त वासनाओं से अप्रभावित होकर अपनी स्थिति शून्यवत् अनुभव करता है। संत तुलसीदास जी ने भी रामजी को वन से लौटाकर अयोध्या पहुँचाया है। जहाँ पहुँचकर वे भरत जी से राज्यभार लेकर उन्हें मुक्त कर देते हैं, वे स्वयं भी सब राज–काज अनासक्ति से करते हैं और स्वयं साक्षीवत् रहते हैं। वे समष्टि में अपने को लीन हुए देखते हैं। अतः तुलसीदासजी मंगलाचरण में समस्त केन्द्रों के संस्कारों से ऊपर उठे हुए समष्टि में लीन रामजी को प्रणाम करते हैं। वे कहते हैं कि–

केकी कण्ठाभनीलं सुर वर विलसद्विप्रपादाब्ज चिन्हं
शोभाढ्यं पीतवस्त्र सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम्।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं

नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढ़ रामम्।।

मोर के कण्ठ की आभा के समान नीले रंग के, देवताओं में श्रेष्ठ विप्र भृगुजी के चरण चिन्ह से यानी भृगुलता से सुशोभित, शोभा से पूर्ण, पीताम्बर धारी, कमलनेत्र वाले, सदा परम प्रसन्न, जिनका तेज मणि के समान कभी फीका न पड़े, धनुष और बाण हाथों में धारण किये हुए, बानर समूह से युक्त, भाई लक्ष्मणजी से सेवित, बन्दनीय, श्री जानकी जी के पति, रघुकुल श्रेष्ठ, पुष्पक विमान पर बैठे हुए श्री रामचन्द्रजी को मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ।

विचारणीय है कि तुलसीदास जी ने मंगलाचरण में कुंडलिनी शक्ति के रीढ़ पर के पाँचों केन्द्रों का उल्लेख कर स्पष्ट किया है कि रामजी पाँचों केन्द्रों से ऊपर तथा आज्ञा केन्द्र से भी ऊपर उठे हुए हैं। नीलवर्ण विशुद्ध केन्द्र का द्योतक है, भृगुलता का चिन्ह अनाहद् का द्योतक है, सदा परम प्रसन्न यानी जिनका तेज मणि के समान कभी मन्द न पड़े मणिपूर का द्योतक है, कमल नेत्र से अभिप्राय जलतत्व से है जो स्वाधिष्ठान का द्योतक है तथा पीतवस्त्र मूलाधार केन्द्र का द्योतक है। लक्ष्मणजी शेष शक्ति यानी कुंडलिनी के प्रतीक हैं जो आज्ञा से ऊपर उठकर सहस्त्रार में उनकी सेवा करती है यानी जो कुंडलिनी का भी आधार है। जानकीजी माया की प्रतीक हैं अतः जानकी पति से अभिप्राय मायापति ब्रह्म से है, उनके हाथों में धनुष वाण यही व्यक्त करते हैं कि रामजी सम्पूर्ण जगत के रक्षक है, वानर समूह से युक्त हैं से यही अभिप्राय है कि समस्त सृष्टि के प्राणी उनमें समाये हुए हैं और वे प्राणियों में समाये हैं पुष्पक विमानारूढ़ से अभिप्राय यही है कि उसके बिना संकल्प किये ही स्वाभाविक रूप में सृष्टि चलती रहती है यानी सेवकभाव, स्वामीभाव तथा साक्षीभाव में मैपन सहज ही बर्तता रहता है। इस प्रकार समष्टि में लीन हुए तथा सबमें रमे हुए सृष्टि के आधार परमात्मतत्व को मैं बार–बार स्मरण करता हूँ। स्मरण करते–करते ही ऐसा लगता है कि वे कुछ समय के लिये पूर्ण समर्पित अपने को समझने लगते हैं। उनकी शारीरिक व मानसिक क्रियाएँ कुंडलिनी शक्ति के माध्यम से नियमानुसार होने लगी होगीं और वे आज्ञा केन्द्र से ऊपर उठकर सहस्त्रार में पहुँचकर साक्षी के भी साक्षीभाव में लीन हो गये होंगे। अतः स्पष्ट है कि

तुलसीदासजी द्वारा रूपक तथा अलंकारों से युक्त कुंडलिनी शक्ति की ही व्याख्या उत्तरकाण्ड में की गई है।

इस प्रकार रामचरितमानस के सातों काण्डों द्वारा पाठकों को कुंडलिनी शक्ति की पूर्णतः जानकारी हो जाती है। साथ ही रामचरित मानस में कुंडलिनी के प्रत्येक केन्द्र की जानकारी भी विस्तार से समझ में आ जाती है। पाठक चाहें तो रामचरित मानस के माध्यम से कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति कर सहज ही लाभान्वित हो सकते हैं।

राम पंचायतन

रामपंचायतन में प्रायः पाँच नामों का ही उल्लेख किया गया हैं—राम,सीता,भरत, लक्ष्मण, और शत्रुघ्न। राम पंचायतन में कुंडलिनी का नाम स्पष्ट नहीं लिया जाता। संत तुलसीदासजी ने कुंडलिनी शक्ति का विवरण अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है। वह रामपंचायतन में इस प्रकार समाई हुई है कि उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। किंचित चिन्तन से ही कुंडलिनी का अस्तित्व स्पष्ट भान होने लगता है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम हमें इन नामों का आध्यात्मिक स्वरूप समझना होगा।

व्यष्टि,समष्टि का ही एक अविभाजित अंश है। समष्टि में ब्रह्म भाव वह तत्व है जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इस तत्व की शक्ति को माया अथवा प्राणशक्ति कहते हैं। प्रायः शक्ति का स्वभाव है कि उससे निरन्तर संकल्प उभरते रहते हैं। एक—एक संकल्प के विस्तार को जीव कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, माया और जीव मूल रूप में सृष्टि के तीन ही प्रमुख अंग हैं। व्यष्टि में भी ये ही तीन भाव हैं किन्तु समष्टि का एक—एक अविभाजित अंश है। व्यष्टि में ब्रह्म, माया और जीव न कहकर उन्हें साक्षीभाव, स्वामीभाव और सेवकभाव कहते हैं।

तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में समष्टि में सृष्टि के इन्हीं तीन प्रमुख अंगों को ब्रह्म, माया और जीव को क्रम से राम,सीता, और लक्ष्मण सम्बोधन किया हैं।

ब्रह्म के रूप में राम—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा, अविगत अलख अनादि अनूपा।

सकल विकार रहित गत भेदा, कहि नित नेति निरूपहिं वेदा।।

श्रीराम जी पर ब्रह्म हैं। वे जानने में न आने वाले, देखने में न आने वाले, आदि रहित, उपमा रहित, सब विकारों से रहित और भेद रहित हैं तथा वेद जिनका निरूपण नित्य नेति—नेति कहकर यानी यह नहीं है, यह नहीं है कह कर करते हैं।

माया के रूप में सीता–

श्रृति सेतु पाल राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।।

हे राम, आप वेद की मर्यादा के रक्षक जगदीश्वर हैं और जानकीजी माया हैं जो कृपा के निधान आपका रुख पाकर जगत की उत्पत्ति,पालन और संहार करती हैं।

जीव के रूप में लक्ष्मण–

आगे रामु लखनु बने पाछें तापस वेष विराजत काछें।
उभय बीच सिय सौहति कैसें, ब्रह्म जीव बिच माया जैसें।।

आगे रामजी हैं, पीछे लक्ष्मणजी सुशोभित हैं। तपस्वियों के वेष बनाये दोनों बहुत ही अच्छे लग रहे हैं। दोनों के बीच में सीताजी कैसी सुशोभित हो रही हैं जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया।

कुंडलिनी शक्ति–

तुलसीदास जी ने कुंडलिनी शक्ति का पृथक् से नामकरण नहीं किया है। उसके सब काम सीताजी से ही कराये हैं। सीताजी को माया कहा है तथा उनसे उत्पत्ति,पालन और संहार के काम कराये गये हैं। इनके आध ाार हैं रामजी स्वयं। रामजी ने मनु सतरूपा से जब कहा था कि मैं तुम्हारे लिये अवतार लूंगा, तब वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि मेरे साथ शक्ति (कुंडलिनी) भी अवतरित होगी वे कहते हैं कि–

आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया, सोउ अवतरहिं मोरि यह माया।

आदि शक्ति मेरी माया भी, जिसने जगत को उत्पन्न किया है, अवतार लेगी। अतः पाठक सीताजी को और कुंडलिनी शक्ति को पृथक–पृथक नहीं एक ही समझें।

व्यष्टि का सूक्ष्म कलेवर–

प्रत्येक व्यक्ति की कार्य प्रणाली का सूक्ष्म रूप से अनुभव किया

जाय तो विदित होगा कि स्पष्ट रूप से व्यक्ति का मैंपन ही सब अंगों से कार्य लेता है। शक्ति के द्वारा शरीर व इन्द्रियाँ आदि तो उसे काम लेने के लिये ही दी गई हैं। ध्यान रहे कि शारीरिक व मानसिक प्रत्येक अवयव की काम करने की सीमा निर्धारित है। यदि व्यक्ति का मैंपन किसी अंग की दी हुई निर्धारित सीमा से अधिक काम लेना चाहे तो नहीं ले सकता, उसे कष्ट होने लगेगा ओर हारकर उस अंग से काम लेना बन्द करना पड़ेगा। मैंपन के कार्य तीन प्रकार के होते हैं– सेवकभाव से काम करना, स्वामीभाव से आदेश देना और साक्षीभाव से तटस्थ होकर विचारों से परे होकर विश्राम ले ले और फिर ताजा होकर काम करने लगे।

तुलसीदासजी ने राम,सीता व लक्ष्मण को वन में भेजकर समष्टि के एक अविभाजित अंश के रूप में व्यष्टि की यानी व्यक्ति की कार्य प्रणाली को स्पष्ट रूप से दिखाया हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति के साक्षीभाव को भरतजी की संज्ञा दी है और सेवक भाव से काम करने के लिये शत्रुघ्नजी को उपस्थित किया है। स्वामीभाव व्यक्त करने को व्यक्तिगत कुंडलिनी को ही उत्तरदायी बनाया है। शक्ति की अनुभूति साधक को होते ही स्वामी के रूप में शक्ति के आदेश उसे समझ में आने लगते हैं। वैसे कुंडलिनी शक्ति के प्रतीक उन्होंने रामजी की चरण पादुकाओं को समझा है।

संक्षेप में, व्यक्ति के सूक्ष्म रूप से काम करने वाले साक्षीभाव,स्वामीभाव और सेवकभाव को उन्होंने श्री भरत जी,रामजी की चरण पादुकाएँ (कुंडलिनी) तथा शत्रुघ्नजी का रूप दिया है। इनके आचरण का ढंग ही प्रत्येक व्यक्ति को अनुकरणीय है आदर्श हैं। श्री भरतजी का आचरण–

नित पूजत प्रभु पांवरी, प्रीति न हृदय समाति।
मागि मागि आयसु करत, राज काज बहु भाँति।।

भरत जी प्रत्येक दिन रामजी की चरणपादुकाओं का पूजन करते हैं, पादुकाओं के प्रति प्रेम हृदय में समाता नहीं है। वे पादुकाओं से आज्ञा माँग–माँग कर सब प्रकार के राज–काज करते हैं। विचारणीय है कि पादुकाओं से जब भरतजी आज्ञा मांगते थे तो काष्ठ की पादुकाएँ भरतजी

को क्या उत्तर देती थीं यह और कोई तो सुन नहीं सकताथा। अतः इस बातचीत को मानसिक कहना सर्वथा उचित है। भरतजी को भीतर से प्रेरणा होती होगी और वे उस प्रेरणा के अनुसार काम करते थे।

यह प्रेरणा देने वाली शक्ति ही कुंडलिनी शक्ति है। भरत जी की प्रेरणाएं होती थीं और वे उन्हें शत्रुघ्नजी को व्यक्त कर देते होंगे वे तुरन्त ही आदेशों का यथावत् पालन कर देने में समर्थ थे। वे वास्तव में, सेवक धर्म में अत्यन्त निपुण थे। बस, आदेश को ध्यान से सुन लेना तथा उसी अनुसार तत्काल उसे कार्य रूप में परिणत कर देना उन्हें आता था। वे मूक सेवक थे। टीका टिप्पणी उन्हें सुहाती नहीं थी। संत तुलसीदासजी उन्हें प्रणाम करते हुए कहते हैं कि–

रिपुसूदन पद कमल नमामी, सूर सुशील भरत अनुगामी।

अस्तु, तुलसीदासजी महाराज ने जहाँ रामचरितमानस के माध्यम से मानव मात्र का जीवन में मार्गदर्शन किया है वहाँ निश्चय ही अनुभूत आध्यात्मिक रहस्य भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। साथ ही उस शक्ति का विवेचन भी अति उत्तम ढंग से किया है जिसका उल्लेख उन्होंने राम अवतार के समय स्पष्ट किया है कि–

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया, सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया।

सर्व साधारण तो कथानक से लाभ उठावेंगे ही पर विवेकी सज्जन उसमें निहित उस सामग्री को भी प्राप्त कर सकेंगे। जिनसे मानव जीवन में आने वाली भव बाधाओं से निर्विघ्न पार हो जावे और आयुपर्यन्त जीवनयुक्त स्थिति में सहज ही रह सके। इस दृष्टि से रामचरितमानस में उन्होंने समष्टि और उसका एक अंश जो व्यष्टि में होता है उसकी रामपंचायतन नाम देकर पाठकों को हृदयंगम कराया है। व्यष्टि अपना कर्तव्य पालन करते–करते ही सहज ही समष्टि का अनुरागी हो जाता हैं। समष्टि के ब्रह्म, जीव, और माया के नाम उन्होंने राम,सीता और लक्ष्मण रखे और व्यष्टि के ब्रह्म,के एक अंश का नाम भरत और जीव के एक अंश का नाम लक्ष्मणजी के छोटे भाई शत्रुघ्न रखा। माया के एक अंश का पृथक् से नाम कुंडलिनी न रखकर रामजी की चरणपादुकाओं से ही स्वामीभाव का

काम किया है।

अतः स्पष्ट है कि राम,सीता,लक्ष्मण,भरत और शत्रुघ्न ही पांच प्रमुख पात्र हैं जिनके

माध्यम से रामचरितमानस का आध्यात्मिक कलेवर रचा गया हैं। अस्तु, रामपंचायतन नाम सर्वथा है। अपने विचारों की पुष्टि के लिये तुलसीदास जी ने सीताराम धाम परिकर में प्रत्येक पात्र की बन्दना की है। समष्टि से व्यष्टि का अस्तित्व व्यक्त नहीं होता बल्कि व्यष्टि से ही समष्टि तक का विवेक होता हैं। अतएव वे व्यष्टि के पात्रों में सर्व प्रमुख भरतजी की वन्दना ही प्रथम करते हैं, वे उनके गुण और स्वभाव का भी साथ ही साथ उल्लेख कर देते हैं।

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना, जासु नेम व्रत जाइ न बरना।।

राम चरन पंकज मन जासू, लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।।

सबसे पहले मैं भरतजी के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया जा सकता। जिनका मन श्रीरामजी के चरण कमलों में भौंरे की तरह लुभाया हुआ है, कभी भी उनके पास से नहीं हटता।

राम भजिअ सब काज बिसारी

सृष्टि की रचना ही ऐसी है कि इसमें प्राणी उत्पन्न होते हैं और जितनी जिसकी आयु होती है उतनी पूरी कर वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जीवन के एक–एक क्षण को वे इस प्रकार व्यतीत करना चाहते हैं जिससे कि उसे सुख मिले। प्राणियों की रुचियाँ भिन्न–भिन्न होती हैं और उनकी रुचियों के अनुसार उनके सुख भी भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं। नाना प्रकार के आहार,भोग–विलास की सामग्रियां, संगीत,साहित्य, रसायन, समस्त कलाएँ, आमोद–प्रमोद के साधन, समाज की विभिन्न प्रकार की सेवाएँ, लोकहित के काम, सत्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी वृत्तियों के काम, राग–द्वेष की क्रियाएँ, हिंसक, क्रूर व अहितकर कार्य, रुग्ण सेवा, औषधियों की खोज तथा उनका उपयोग, परोपकार, क्षमा, दया,प्रेम आदि गुणों का जन्म व्यक्तियों की देश, काल परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न रुचियों के फलस्वरूप सुख प्राप्त करने के लिये ही हुआ है।

किन्तु, प्रकृति रचना की विशेषता यह है कि व्यक्ति के मन के अनुकूल जब कोई काम हो जाता है तब उसे सुख अनुभव होता है। परन्तु यह सुख शीघ्र ही समाप्त हो जाता है और फिर मन कोई दूसरी चाहना करने लगता है। और उस इच्छा के पूरी न होने तक वह दुखी ही रहता है। जो सुख पहले प्राप्त हो चुका है उसकी तो स्मृति धूमिल हो जाती है और वर्तमान का दुख ही स्मरण बना रहता है, और वर्तमान का दुःख ही स्मरण बना रहता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति प्रायः दुखी ही दीखता है।

दुःख की अत्यन्त ही दृढ़ जड़ माया यानी विचारों का एक बहुत ही जटिल जाल है, जिसमें मानव उत्पन्न होते ही फँस जाता है और मृत्यु पर्यन्त उस जाल में से नहीं निकल पाता।

इस जाल को अहंभाव का भ्रम कहते हैं। बाल हठ, त्रिया हठ तो प्रसिद्ध हैं ही पर अनुभव में यही आता है कि प्रत्येक मानव ही प्रायः अपने मन के अनुकूल ही चलना चाहता है और अपने आश्रितों को चलाना चाहता है। जिन व्यक्तियों पर उसका बस नहीं चलता उन पर हारकर अपनी बात नहीं थोप पाता, लाचारी से ही मन दबा कर रह जाता है। शारीरिक अथवा मानसिक काम करने में भी प्रायः व्यक्ति अपनी इन्द्रियों की शक्ति की सीमा

पर विचार न कर उन्हें थका देने में प्रसन्न होता है। सम्पर्क में आने वाले लोग भी उसे कर्मठ कहते हैं, पुरूषार्थी कहते हैं यानी उसके अहंभाव को ही अधिक बढ़ावा देते हैं। शरीर व इन्द्रियों से उनकी सीमा से अधिक काम लेने पर उनका थक जाना स्वाभाविक है, जिससे व्यक्ति आवश्यकता से अधि ाक इन्द्रियों आदि से काम लेने पर पीछे थकावट अनुभव करता है, दुःखी हो जाता है और पछताता भी है पर मन के अनुकूल करते समय उसे अच्छा लता है उस समय उसे ध्यान नहीं रहता कि यह अच्छा लगना नहीं वरन् दुःख पाना हैं, किन्तु अहंभाव की प्रबलता उसे ठीक बात सोचने की ओर ध्यान ही नहीं देने देती।

अहंभाव की प्रबलता का प्रधान कारण है अज्ञान। ऐसा लगता है कि अज्ञान प्रकृति की रचना का आवश्यक अंग है। अज्ञान से अभिप्राय है मेरेपन से। व्यक्ति के उत्पन्न होते ही माता,पिता,कुटुम्बियों तथा सम्पर्क में आने वाले लोगों से मेरेपन के संस्कार उसके मस्तिष्क में जमने लगते हैं। बालक अपने शरीर को समझता है कि मेरा शरीर है, शरीर में स्थित आँख,कान,नाक, हाथ,पैर आदि को अपने समझने लगता है, मेरी आँख, मेरे कान, मेरी नाक, मेरे हाथ, मेरे पैर आदि कहना स्वाभाविक हो जाता है। मैं बोल रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ, मैं रो रहा हूँ, मैं हँस रहा हूँ कहने को वह बिल्कुल सत्य समझता है। किन्तु जब कभी उसे अपने किसी अंग से आवश्यकतानुसार
अधिक काम लेना पड़ता हैं तो उसे अंग में विशेष कष्ट अनुभव होता है। ऐसी घटनाएँ अनेक बार होने पर एक दो बार ऐसा भी विचार आता है कि मैं अपने ही अंग का मन चाहे जब तक उपयोग क्यों नहीं कर पाता? ऐसे विचार अनेक बार आने पर कभी–कभी उसे यह भी ध्यान आता है कि मेरे द्वारा न तो शरीर निर्मित है न शरीर का कोई अंग भी। तब उसे ऐसा लगने लगता है कि कोई न कोई सत्ता शरीर के अन्दर अवश्य है, जिसने शरीर बनाया है। यदि सीमा से अधिक किसी भी अंग से काम लिया जाय तो भीतर से रोक लगती है। यदि फिर भी न रूका जावे तो अत्यन्त वेदना अनुभव होती है। विचार करते–करते व्यक्ति इस परिणाम पर पहुँचता है कि वह शरीर आदि से पृथक है। भीतर की सत्ता ने उसे शरीर तथा अंग आदि को उपयोग करने को दिये हैं। वस्तुतः ये अंग आदि उसी सत्ता के हैं। वह

स्वामी के समान हैं और मैं उसके सेवक के समान हूँ। फलतः अहंभाव दबने लगता है और सेवकभाव से व्यक्ति काम करने लगता है। अहंभाव न लाकर सेवकभाव से काम करना ज्ञान कहलाता है। अब प्रकृति उस व्यक्ति से ज्ञान का अभिनय कराने लगती है।

ऐसा अनुभव होता है कि प्रकृति द्वारा इस संसार रूपी रंगमंच पर पात्रों से पहले अज्ञान के ही अभिनय कराये जाते हैं, जिससे अधिकतर सर्वत्र कर्तापन यानी मैंपन के ही प्रदर्शन अधिकांश में होते दीखते हैं, कर्तापन को बढ़ावा देने वाले लोग ही सब जगह प्रोत्साहन देते दृष्टिगोचर होते हैं। शनैः–शनैः इन्हीं पात्रो में से किसी–किसी को ज्ञान आने लगता है जिससे वे सेवकभाव से कर्म करने लगते हैं। कालान्तर में कोई–कोई विवेकी पात्र चौबीस घंटे ही सेवकभाव में रत रहते हुए दिनचर्या व्यतीत करने लगते हैं। उन्हें स्वामी के प्रति अत्यन्त प्रेम हो जाता हैं। फलतः स्वामी के

रूप में शक्ति की उन्हें अनुभूति हो जाती है। विवेकी जन अपने–अपने संस्कारानुसार इस शक्ति का विविध नामों से उल्लेख करते हैं। कोई–कोई सज्जन इस शक्ति की अनुभूति को भगवान् का दर्शन कहते हैं। तो कोई–कोई सज्जन इस शक्ति को कुंडलिनी कह कर संबोधन करते हैं। रामचरित मानस में राम के जन्म के साथ ही इस शक्ति का जन्म बताया है। श्री तुलसीदासजी ने श्रीराम के श्रीमुख से ही इसका उल्लेख कराया है। वे कहते हैं कि–

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया, सोइ अवतरिहिं मोरि यह माया।।

शक्ति के अनुभव होने पर भी साधक में कभी–कभी अज्ञान उभर आता है यानी कर्म करते समय मैंपन आ जाता है, जिससे वह अशांत हो जाता है, विचलित हो जाता है, किन्तु उसे शीघ्र ही ज्ञान आ जाता है यानी उसका सेवकभाव उभर आता हैं। फलतः साधक शीघ्र सम्हल जाता है, शांति अनुभव करने लगता हैं। ध्यान रहे कि वास्तव में अज्ञान से तात्पर्य कर्तापन यानी मैंपन के संस्कारों से है और ज्ञान से तात्पर्य सेवकभाव के संस्कारों से है। अज्ञान के अभिनय करते समय मैंपन के विचारों का ही आदान–प्रदान अधिक होता है, जिससे मैंपन के विचार ही मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में समा जाते हैं। ये संस्कार सदा ही रहते हैं, नष्ट नहीं होते। जब

ज्ञान का यानी सेवकभाव से काम किया जाता है तब ज्ञान के यानी सेवकभाव के विचार भी मस्तिष्क में स्थान बनाने लगते हैं। जब ज्ञान के विचारों की मात्रा अज्ञान के विचारों से अधिक हो जाती है तब ज्ञान के विचार अज्ञान के विचारों को दबा देते हैं और ज्ञान के विचार बलवान होकर सेवकभाव से कर्म करने को ही लालायित रहते हैं। इस प्रकार अनुभूति करने पर भी कभी–कभी साधक को फिसलते हुए देखा जा सकता है किन्तु वह शीघ्र ही सम्हल जावेगा। अज्ञान के संस्कार जब भी बाह्य वातावरण से प्रभावित होते हैं वे उभर आते हैं उनका उभरना स्वाभाविक है किन्तु ज्ञान के संस्कार उनसे संघर्ष कर उन्हें दबाते रहते हैं। यह क्रम जीवनपर्यन्त चलेगा। यदि प्रकृति अपने पात्र से अनुभूति के उपरान्त ज्ञान के संस्कारों की वृद्धि करने में सहयोग देती रहेगी तो यथा सम्भव साधक में शांति बनी रहेगी और अज्ञान के संस्कारों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। सेवकभाव से ही अधिकांश में जीवन व्यतीत होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त तुलसीदासजी महाराज को श्रीरामजी में अटूट श्रृद्धा थी। उनका प्रेम अगाध था। वे श्रीराम को सर्वत्र समान रूप से व्याप्त अनुभव करते थे। राम के प्रति प्रेम के संस्कार उनके मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में थे। किन्तु, सभी देवी, देवताओं की उपासनाएँ भी उन्होंने बहुत की थीं, जिससे इन उपासनाओं के संस्कार भी उनके मस्तिष्क में एक बड़ी मात्रा में थे। रामजी के लिए ही सेवकभाव से जीवन भर काम करने को जीव ने जन्म लिया है, यह अनुभव उन्हें रामचरितमानस लिखते–लिखते ही हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। मानस लिखते समय शक्ति की उन्हें अनुभूति अवश्य थी, किन्तु इस शक्ति का नाम ही राम की शक्ति है जो राम से अविभाजित है और स्वामी बनी हुई ही सर्वेसर्वा है। उत्पत्ति, पालन और संहार की क्रियाओं को करने वाली यही सत्ता प्रमुख है, किन्तु रामजी के आधार बिना इस सत्ता का अस्तित्व नहीं है। अतः जीवन भर काम करने वाली सत्ता तो यही है, परन्तु आधार का नाम रामजी कहने से यह बात व्यापक रूप से प्रचलन में आ गई है कि सब काम रामजी ही करते हैं। 'सबहिं नचावत राम गोसाई' अथवा "नट मर्कट इव, सबहिं नचावत, राम खगेस वेद अस गावत" आदि। वे अनुभूति के आधार से ही मंगलाचरण में श्रीराम तथा अन्य देवताओं की वन्दना के साथ शक्ति की ही सीताजी के

रामचरितमानस का लिखना प्रारम्भ करते हैं। "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा" से स्पष्ट है कि वे अपने को सुखी करने राम कथा लिखते हैं। अब भरतजी के सेवकभाव को लिखते–लिखते उनका मैंपन दबने लगता है और वे समझने लगते हैं कि सेवकभाव से स्वामी के आदेश पालन के लिये उनसे रामचरितमानस लिखवाई जा रही है। सेवकभाव का संस्कार शनैःशनैः पुष्ट होने लगता है। परन्तु मैंपन के संस्कार काम पूरा होने पर फिर उभरते हैं। अतः मानस पूर्ण होने पर वे लिखते हैं कि–

जाकी कृपा लवलेस ते मति मंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।।

जिनकी लेशमात्र कृपा से मन्द बुद्धि तुलसीदासजी ने भी परम शांति प्राप्त करली, उन श्रीरामजी के समान प्रभु कहीं भी नहीं हैं। इन शब्दों में तुलसीदासजी का मैंपन उभर आता है, मैंपन के उभरते ही उनकी शांति जाती रहती है, भवबाधायें उनके सामने फिर खड़ी हो जाती हैं। वे दुःखी होकर कहते हैं कि–

मोसम दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुवीर।
अस विचारि रघुवंसमनि, हरहु विषम भव पीर।।

अब फिर वे मन में सोचते हैं कि रामजी से प्रार्थना करने से भवबाधायें दूर नहीं होती। भरतजी के समान सेवकभाव के आचरण से भवरोग मिट जाते हैं। उन्हें चित्रकूट के मार्ग में लोगों के सम्बन्ध में लिखी बात स्मरण हो आती हैं कि 'भरत दरस मेटा भव रोगू'। फलतः भरतजी के स्मरण से तुलसीदासजी का मैंपन दब जाता है। और सेवकभाव पुनः उभर आता है। अब उनमें भक्ति की भावना प्रबल होने लगती है। वे समझने लगते हैं कि रामजी की प्रेरणा से ही रामचरितमानस लिखा गया है और उन्होंने ही इसे पूर्ण कराया है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ, सेवक का निजी आदेश नहीं होता, बल्कि सेवक तो स्वामी के आदेश का पालन करता है। अतएव वे सबसे अन्त में भक्ति भाव व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति केवल रामजी के लिये ही प्रत्येक कार्य करता है वही रामजी का भक्त है, वही रामजी का प्रिय पात्र है। यह ज्ञान उन्हें प्रारम्भ में नहीं था। यही कारण है कि रामचरितमानस के प्रारम्भ में उन्होंने मानस लिखने का उद्देश्य 'स्वान्तःसुखाय' लिखा था किन्तु अन्त में वे स्पष्ट लिखते हैं कि वास्तव में

मानस लिखने का उनका उद्देश्य 'स्वान्तस्तमः शान्तये' था। यानी अपने अन्तःकारण के अन्धकार को मिटाने के लिये मानस लिखा गया अन्तःकरण का नाम है 'मैंपन' उसे मिटाकर भक्ति यानी सेवकभाव प्राप्त करने के लिये ही वस्तुतः मानस लिखा गया है जैसाकि वे लिखते हैं:–

यत्पूर्वप्रभुणा कृतं सुकबिना श्री शम्भुना दुर्गमं
श्री मद्रामपदाब्ज भक्ति मनिशं प्राप्त्यर्तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनामनि तं स्वान्तस्तमः शान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।।

श्रेष्ठ कवि भगवान श्री शंकरजी ने श्रीरामजी के चरण कमलों में नित्य निरन्तर भक्ति प्राप्त होने के लिये पहले जिस दुर्गम मानस रामायण की रचना की थी, उस मानस रामायण को श्री रघुनाथजी के नाम में निरत मानकर अपने अन्तःकरण के अन्धकार को मिटाने के लिये तुलसीदासजी ने उसी रामायण को इस मानस के रूप में भाषाबद्ध किया।

अस्तु, रामचरितमानस का उद्देश्य स्पष्ट रूप से किसी भी प्रकार की कामना करना नहीं है वरन् केवल रामजी का भक्त होना है जैसाकि उत्तरकाण्ड में 'रामजी का प्रजा को उपदेश' शीर्षक से श्रीरामजी के ही मुखारबिन्द से गुरुजी आदि प्रतिष्ठित अयोध्यावासियों के प्रति दिया गया है कि–

सरल सुभाव न मन कुटिलाई, यथा लाभ सन्तोष सदा ही।

'सरल स्वभाव' का अर्थ है ऊपर से मेरे तेरे का अभिनय करना और 'मन में कुटिलता नहीं लाना' से यही अभिप्राय है कि प्रत्येक वस्तु को रामजी को समझना और रामजी के लिये ही उसका सदुपयोग करना तथा सेवकभाव में रत रहना।

रामचरितमानस का मर्मः–

रामचरितमानस का उपसंहार करते हुए तुलसीदासजी मानस का मर्म स्पष्ट करते हैं कि मानस का श्रवण, पठन अथवा मनन अज्ञान अंधकार यानी 'मैंपन' को प्रभावहीन कर देता है और व्यक्ति को भक्त बनाने की क्षमता रखता है। भक्त के समस्त निजी कार्य, रामजी के कार्यो में परिणत हो जाते हैं। भक्त, मद और माया से रहित होकर राम का प्रेमी हो जाता है यानी रामजी के पूर्ण समर्पित हुए अपने को समझकर रामजी के लिये ही सेवकभाव से अपनी दिनचर्या व्यतीत करता है। साथ ही उसे अनुभूति हो जाती है कि शक्ति मेरे अन्दर ही व्याप्त है। इस रहस्य को और

अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से वे शिवजी और पार्वतीजी का सम्वाद प्रस्तुत करते हैं। पार्वतीजी कहती हैं कि सहस्त्रों मनुष्यों में कोई एक धर्म के व्रत को धारण करने वाला होता है और करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक विषयों का त्यागी और वैराग्यपरायण होता हैं। श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तों में कोई एक यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता हैं। और करोड़ों ज्ञानियों मे कोई एक ही जीवनमुक्त होता हैं। हजारों जीवनमुक्तों में भी सब सुखों की खान, ब्रह्म में लीन विज्ञानवान् पुरूष और भी दुर्लभ हैं। धर्मात्मा, वैराग्यवान्, ज्ञानी जीवनमुक्त और ब्रह्मलीन इन सबमें भी वह व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ है जो मद और माया से रहित होकर श्रीरामजी की भक्ति के परायण हो। ऐसे भक्त शिरोमणि श्री काकभुशुंडि थे। गरूड़ अज्ञान अंधकार में पड़े थे। उन्हें काकभुशुंडि के पास भेजा जाता हैं। काकभुशुडि उन्हें रामचरितमानस सुनाते है तथा ज्ञान व भक्ति का मर्म समझाते हैं, मानस के श्रवण से उनका अज्ञान दूर हो गया। भक्ति का मर्म समझने से मैंपन के स्थान पर वे रामजी के लिये ही काम करने लगे। उन्हें शक्ति (कुंडलिनी) की अनुभूति भी हो गई। वे परमात्मसत्ता को अपने अन्दर व्याप्त हुई अनुभव करने लगे। अन्त में काकभुशुंडि ने उन्हें मानस का मर्म यही बताया कि सेवकभाव से पूर्ण शरणागत होकर कर्तव्यपालन किया जाय।

वेदशास्त्र भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—

श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी, राम भजिअ सब काज बिसारी।।

हे गरूड़जी, श्रुतियों का यही सिद्धांत है कि सब काम भुलाकर रामजी का भजन करना चाहिये। सब काम भुलाकर रामजी का भजन करना चाहिये अथवा नाम जपते रहना चाहिये। रामजी के भजन का भाव यह नहीं है कि सब काम छोड़कर रामजी का ही दिनरात भजन करना चाहिये। बल्कि भाव यह है कि रामजी का भक्त जिसे उनकी सत्ता की अनुभूति अपने अन्दर हो गई है और जिसे स्पष्ट अनुभव हो गया है कि उनकी सत्ता ही भक्त से सब कुछ कराती है, उसका निजी कार्य कोई नहीं होता। उसके निजी सब कार्य रामजी के कार्यो में परिणत हो जाते हैं। वस्तुतः भक्त काम तो सब करता हैं, पर उसे यही अनुभव होता रहता है कि वह रामजी के कार्यो को रामजी के लिये ही कर रहा हैं। यही रहस्य है कि 'राम भजिअ सब काज बिसारी का।

महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत ग्रन्थ

1. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
   (प्रथम भाग अध्याय 1 से 6)
2. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
   (द्वितीय भाग अध्याय 7 से 12)
3. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
   (तृतीय भाग अध्याय 13 से 18)
4. रामचरित मानस के 10 प्रसंग
5. रामचरित मानस के 10 रहस्य
6. साधक शंका समाधान
7. साधक प्रश्नोत्तर शतक (प्रथम)
8. साधक प्रश्नोत्तर शतक (द्वितीय)
9. साधक विचार प्रगति
10. साधक साधना (भजन)
11. जैसे मैंने सीखा
    (अनुभूति से पूर्व की मेरी जीवन घटनायें)
12. कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
13. आत्मबोध
14. Realisation of the Self (English)
15. साधना
16. स्वशक्ति साधना का संक्षिप्त परिचय
17. दिव्यशक्ति बोध (भजन)
18. वचनामृत
19. बुद्धि विकास
20. बापू के एकादश वृत
21. ईशावास्योपनिषद् (व्यक्तिगत दृष्टिकोण)
22. मानव विकास की पूर्णता
23. कुण्डलिनी का जीवन में उपयोग (सजिल्द)
24. रामचरित मानस में कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
25. मैंपन का विवेचन (व्यक्तिगत अनुभव)

प्रकाशक - नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट शिवपुरी

सम्पर्क : 9584839311, 9406982106

मुद्रक - मुकेश प्रेस, शिवपुरी (म. प्र.) मोबा. 9407230499